नाट्यकथाऽमृत

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का बहत्तरवाँ पुष्प

नाट्यकथाऽमृत

[बिहार की १०-११वीं कक्षा के लिये स्वीकृत]

लेखक
चंद्रमौलि सुकुल एम्० ए०, एल्० टी०
(प्रिंसिपल ट्रेनिंग-कॉलेज, हिंदू-विश्वविद्यालय)

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

सजिल्द १॥)] द्वितीयावृत्ति [सादी १।)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ
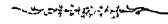
मुद्रक
श्रीकेदारनाथ भार्गव
इलाहाबाद-ओरियंटल-प्रेस
लखनऊ

PREFACE.

'Natya-Kathamrita' or 'Nectar of Dramatic Tales' in Hindi contains 12 tales from the most renowned Sanskrit poets like Kalidasa and Bhavabhuti. It follows the lines of "Lambs' Tales from Shakespeare", with the disadvantage of inability to quote *verbatim* Sanskrit passages, prose or poetry, in Hindi. Attempts have, however, been made to substitute close Hindi versions wherever required—versions, some prepared by the writer, and a few thankfully borrowed.

Moderately literary language has been used, and while taking due care for fine sentiments and preserving the thread of the tales, obscene love-passages have, as far as possible, been carefully pruned off.

ALLAHABAD :
May 14th, 1914. } CHANDRA MAULI SUKUL.

भूमिका

(द्वितीय संस्करण)

मुझे संतोष है कि प्रथम संस्करण का आदर पर्याप्त रूप से हुआ। संयुक्त-प्रांत, मध्य-प्रांत व बरार, पंजाब, तथा बिहार-उड़ीसा की सरकारी टेक्स्ट-बुक-कमेटियों ने अपने-अपने प्रांतों के स्कूलों के लिये उसे स्वीकार करने की कृपा की। कतिपय लब्धप्रतिष्ठ पत्रिकाओं तथा विद्वानों ने उसकी बहुत अच्छी समालोचना की। कुछ प्रतियाँ लंदन नगर तक भी पहुँचीं।

अब पुस्तक का द्वितीय संस्करण लखनऊ की "गंगा-पुस्तकमाला" कर रही है। सुंदर छपाई और चित्रों से विभूषित होकर यह संस्करण पहले से कहीं अधिक चित्ता-कर्षक होगा। विषय में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। शुभम्।

काशी,
माघ, सं० १९८२ वि०

चंद्रमौलि सुकुल

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

इस ग्रंथ में संस्कृत के उत्तमोत्तम बारह नाटकों की कथाओं का सार दिया गया है। उनमें शकुंतला, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्नि मित्र जगद्विख्यात कवि कालिदास के, महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव महाकवि भवभूति के तथा रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानंद महाराज श्रीहर्षदेव के हैं। मृच्छकटिक राजा शूद्रक का, वेणीसंहार नारायण कवि का और मुद्राराक्षस विशाखदत्त का है।

पहलेपहल मेरा विचार था कि अन्य लेखकों की भाँति पूरे-पूरे ग्रंथों का गद्य-पद्य-मय अनुवाद करूँ; किंतु इसमें बहुत समय तथा परिश्रम की आवश्यकता थी, और फिर भी एक-एक ग्रंथ पृथक्-पृथक् रहता, जिससे पाठकों को कोई सुबीता नहीं था। अतः मैंने उन अमृतमय नाटकों का सार खींचकर कथा-रूप में रक्खा है। इन कथाओं के पढ़ने से थोड़े ही श्रम और समय में नाटकों की सब बातें ज्ञात हो जायँगी और इस बात का परिचय मिल जायगा कि हमारे देश के पुराने कवि कैसे प्रतिभाशाली थे।

कथाओं में जो पद्य आए हैं, वे सब मेरे ही बनाए नहीं हैं—भवभूति के तीनों नाटकों की कथाओं में तथा एकआध और स्थल पर कईएक पद्य लाला सीतारामजी (भूप) के अनुवादित ग्रंथों से, उनकी आज्ञा लेकर, उद्धृत किए हैं, और मुद्राराक्षस की कथा में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी की पुस्तक से कई एक पद्य तथा उपोद्घात से किंचित् गद्य भी लिया है। दो पद्य और आचार्यों के भी हैं। इस सहायता की स्वीकृति सधन्यवाद करता हूँ।

नाटकों में प्रायः नायक और नायिका का प्रेम-वृत्तांत होता है। कथाओं में यह कम करके केवल उतना ही रक्खा गया है, जिससे क्रम में हानि न हो, और रोचकता न नष्ट हो। इसी प्रकार आवश्यकतानुसार और बातों में भी कमी-बेशी कर दी गई है; परंतु ऐसी बात कोई नहीं छोड़ दी गई, जिससे कथा के फैलाव में हानि हो। भाषा प्रायः सर्वत्र ऐसी है, जो साधारणतः अच्छी तरह हिंदी जाननेवालों की समझ में आ जाय।

यदि हमारे प्रिय और विद्वान् पाठकगण अपनी उदारता से इस ग्रंथ को आदर देकर तथा भूल-चूक क्षमा करके मेरी हिम्मत बढ़ावेंगे, तो कुछ समय में इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित करके सेवा में उपस्थित करूँगा।

चंद्रमौलि सुकुल

कथा-सूची

सकल गुरुन सेवा करहु, सौतिन सों करु प्रीति ;
पति जद्यपि रोषहु करहिं, धरहु न अनुचित रीति ।
परिजन पर ममता करहु, भाग्य पाय नहिं मान ;
गृहिनी लच्छन सुभ यही, अन्य मिटै कुलकान ।

(पृष्ठ ११)

Ganga Fine Art Press, Lucknow.

नाट्यकथाऽमृत

(१)

शकुंतला

पुरुवंशी राजों में एक बड़े प्रभावशाली राजा दुष्यंत हुए। यह ऐसे वीर थे कि समय पड़ने पर इंद्र को भी सहायता देकर दैत्यों को मारते थे। इन्हें शिकार में ऐसी रुचि थी कि राज-काज मंत्रियों के हाथ में देकर सेना-समेत उपवन को निकल जाते थे, और वहीं डेरा डालकर चिरकाल रहते थे। मृग, वराह, व्याघ्र आदि के पीछे दोपहर की असह्य धूप में भी वन-वन घूमते और झरनों का पानी पीकर दिन बिता देते थे।

एक बार इसी प्रकार आखेट-मंडली के साथ आकर राजा ने एक हरिण का पीछा किया। गड्ढेदार ऊँची-नीची पृथ्वी होने के कारण रथ का वेग कम कर दिया गया था, इसलिये हरिण बहुत दूर पड़ गया; पर तब भी वह भय के कारण लौट-लौट-कर राजा की ओर देखता था। अच्छा अवसर पाकर राजा ने

बाण छोड़ने का विचार किया; पर तत्क्षण ही एक तपस्वी ने हाथ उठाकर पुकारा—यह आश्रमवासी मृग है; इसे न मारो।

अपने बाण को धनुष से उतारकर राजा उस तपस्वी के पास गए। उसने आशीर्वाद देकर बतलाया कि थोड़ी ही दूर पर, मालिनी-नदी के किनारे, कुलपति कण्व का आश्रम है। कण्व मुनि उस समय, अपनी कन्या शकुंतला को अतिथि-सत्कार आदि का भार देकर, उसी के कल्याण के लिये, सोम-तीर्थ गए थे। परंतु राजा को पुण्याश्रम देखने की अभिलाषा थी, इसलिये रथ पर चढ़कर वह उसी ओर गए। आश्रम के निकट नाना प्रकार के पशु-पक्षी, हरिण और शुक आदि, निर्भय होकर रहते थे, और उत्तम घास, फल, तृण, धान्य आदि खाते थे। राजा ने रथ से उतरकर, आखेटवाले वस्त्र व धनुष आदि सारथी को सौंपकर, उसे रथ-समेत वहीं ठहरा दिया। आश्रम-द्वार में प्रवेश करते ही उनका दक्षिण बाहु फड़कने लगा, जिससे प्रसन्न होकर वह आगे बढ़े। आश्रम-वाटिका से बातचीत का शब्द आता था, जिसके सुनने के लिये राजा एक वृक्ष की छाया में छिपकर खड़े हो गए।

वाटिका में कण्व मुनि की कन्या शकुंतला और उसकी दो सखियाँ—अनसूया व प्रियंवदा—छोटे-छोटे घड़ों से वृक्ष सींच रही थीं। इन वृक्षों पर मुनि का इतना प्रेम था कि सुकुमार अंगवाली कन्या को भी उनके सींचने के लिये

लगाया था। कन्या भी उन पर भाई-बहन का-सा स्नेह रखती थीं। सींचते समय मुनि-बालिकाएँ परस्पर हास्य भी करती थीं। शकुंतला का शरीर वल्कल से अधिक कस गया था, जिसके ढीला करते समय प्रियंवदा ने कहा—यौवनावस्था आ जाने के कारण पुराने वल्कल कसे पड़ते हैं।

राजा दुष्यंत आड़ से सब लीला देखते थे। शकुंतला की रूप-समृद्धि से उनको अचंभा हो गया। उसे ऐसे काम में लगाने के कारण राजा मन-ही-मन कण्व मुनि का उपालंभ करने लगे। इस सौंदर्यमयी कन्या का लावण्य देखकर उनके हृदय में काम का आविर्भाव हुआ; पर इसे मुनिकन्या जानकर कुछ कह नहीं सकते थे।

शकुंतला देख रही थी कि नवमालिका और आम्र-वृक्ष की कैसी शोभा है. और उनका स्त्री-पुरुष-भाव कैसा सोहावना है। इतने में एक भ्रमर उसके मुख के समीप उड़ने लगा। ज्यों-ज्यों वह इधर-उधर भागती थी, त्यों-त्यों भ्रमर भी उड़कर मँडलाता था, और उसे नहीं छोड़ता था। इस व्यापार में उसके हाथों-पैरों का चलाना और सिर हिलाना आदि काम राजा के हृदय में चुभ-से जाते थे। अब तो निरुपाय होकर शकुंतला ने दुष्ट भ्रमर को दूर करने के लिये सखियों से सहायता माँगी, जिस पर एक सखी ने कहा—राजा दुष्यंत को पुकारो।

दुष्यंत को अच्छा अवसर मिल गया। वह तत्क्षण प्रकट

होकर उनका कुशल-वृत्तांत पूछने लगे। साध्वसवश शकुंतला कुछ नहीं कह सकती थी; परंतु सखियों ने उनका स्वागत करके एक शिलापट्ट पर बिठाया और हाल पूछा। राजा ने अपना राजभाव छिपाकर अपने को दुष्यंत का धर्माधिकारी बतलाया, और शकुंतला का पूर्ण वृत्तांत जानना चाहा। अनसूया ने कहा—किसी समय विश्वामित्र ऋषि उग्र तपस्या करते थे। इंद्र की आज्ञा से मेनका अप्सरा ने उनका तपो-भंग कर दिया। उन दोनों के संयोग से यह कन्या उत्पन्न हुई। इसे छोड़कर वे दोनों अपने-अपने स्थान को चले गए। तब कण्व मुनि इसे अपने यहाँ लाए, और अपनी कन्या बनाकर रक्खा।

यह हाल सुनकर राजा को धैर्य हुआ। अभी तक शकुं-तला को मुनि की औरस कन्या जानकर उसके लिये मनोरथ भी नहीं कर सकते थे; परंतु अब उसे अपने योग्य जानकर कुछ आशा हुई।

शकुंतला ने लज्जावश वहाँ से जाना चाहा; परंतु सखियों ने इस बहाने से उसे पकड़कर रोक लिया कि अभी दो वृक्ष सींचने का हमारा ऋण तुम्हारे ऊपर है; उसे चुकाकर जाओ। राजा ने सखियों को अपनी अँगूठी देकर उसे छुड़ाना चाहा; सखियों ने उसमें लिखा हुआ दुष्यंत का नाम पढ़ लिया, और उसे अस्वीकार करके वैसे ही शकुंतला को छोड़ दिया।

इसी बीच में राजा के अनुगामी उन्हें ढूँढ़ते हुए आश्रम के

समीप तक पहुँच गए। इन्हें रोकने के लिये दुष्यंत ने मुनि-कन्याओं से आज्ञा माँगी, और फिर आने का वचन दिया।

राजा का मन शकुंतला में लग गया था। फिर चैन कहाँ? विरह-दुःख होने लगा; आखेट का भारी व्यसन भी छूट गया। उन्होंने सेनापति को बुलाकर आज्ञा दे दी कि समग्र सेना राजधानी को लौट जाय, और मृगया बंद कर दी जाय। राजा और विदूषक एकांत में बैठकर शकुंतला-विषयक बातें करते थे। उन्हें उसके रूप, सौभाग्य, चितवन, चाल आदि का वारंवार स्मरण हो आता था। विदूषक ने उसे नहीं देखा था, इसलिये वह अल्पभाग्य माना जाता था; परंतु हर बात को हास्य में डाल देता था। राजा को आशा हो गई थी कि शकुंतला का हृदय भी काम-बाणों से विद्ध हो गया है; पर वह मुनि के भय से उसे किसी प्रकार प्रकट नहीं करती।

कण्व मुनि आश्रम पर नहीं विद्यमान थे, और राक्षस लोग कुछ विघ्न करते थे, इसलिये मुनि के दो शिष्यों ने आकर रक्षा के लिये राजा से प्रार्थना की, जिसको उन्होंने उसी क्षण स्वीकार कर लिया। परंतु प्रस्थान करने से पहले ही राजा की माता का संदेश आया कि चौथे दिन वह कुछ धर्मकार्य करनेवाली हैं, जिसमें राजा का होना आवश्यक है।

इस संदेश से राजा संकट में पड़े। एक ओर माता की आज्ञा, दूसरी ओर मुनियों की रक्षा। फिर भी शकुंतला को छोड़कर अन्यत्र जाना सबसे कठिन था। इससे राजा ने यह

कहकर कि विदूषक को भी माता मेरे ही समान मानती हैं, उसे राजधानी भेज दिया; परंतु उससे कह दिया कि शकुंतला के विषय में जो बातें हुई हैं, वे सब परिहास में हुई हैं, सत्य नहीं हैं।

आश्रम पर राजा के पहुँच जाने से राक्षसों का भय शांत हो गया, और मुनि लोग सुख-पूर्वक अपनी धर्मक्रिया करने लगे। परंतु शकुंतला को सुख नहीं था; उसकी विरहावस्था शोचनीय थी; शरीर अत्यंत अस्वस्थ था; दुर्बलता बढ़ती जाती थी; कामजनित दाह होता था। सखियाँ उसके नीरोग होने के लिये अनेक उपाय करती थीं। कमलिनी-पत्र लाकर उसके हृदय पर रखती थीं, ताड़ के पंखों से वायु देती थीं; परंतु इन उपायों से विरहाग्नि अधिक प्रज्वलित होती थी। सरलचित्त मुनियों ने भी इस अस्वस्थता का वृत्तांत सुना, इसलिये उन्होंने पुण्य-जल भेजा; पर उससे भी कुछ काम न चला। सखियों ने तो पहले ही से ताड़ लिया था कि राजा दुष्यंत को देखकर यह दशा हुई है। निदान बहुत पूछने पर शकुंतला ने सखियों को सत्य वृत्तांत बतला दिया। बड़ा कठिन समय था; बिना मुनि की आज्ञा कोई काम करना अनुचित था। उधर शकुंतला का रोग एक ही औषध से जा सकता था। निश्चय किया गया कि औषध ढूँढ़ी जाय; इसलिये शकुंतला ने एक पुरइन के पत्र पर नख से प्रणय की चिट्ठी लिखी—

राात्रि दिवस यह अभय अनंगा ;
करत ताप बहुबिधि मम अंगा ।
तव हित आजु दशा यह मोरी ;
हृदय-वृत्ति नहिं जानहुँ तोरी ।

राजा की दशा भी कुछ इससे कम न थी। आश्रम के विघ्न निवारण करके विरहावस्था झेल रहे थे। तेजस्वी मुनि कुटी पर नहीं थे कि उनकी आज्ञा से कोई काम किया जाता। शकुंतला को स्वच्छंदता नहीं थी। इधर काम-बाधा अधिक थी, और चंद्रोदय आदि से और भी असह्य हो रही थी। राजा के सुख के लिये एक-मात्र उपाय यही था कि किसी प्रकार मुनि-कन्या का दर्शन हो। इसलिये जिस लतामंडप में वह थी, वहीं पर जाकर वह आड़ से देखने, और विश्रंभालाप सुनने लगे। ज्यों-ज्यों वह अपने विषय की बातें सुनते थे, त्यों-त्यों प्रसन्न होकर शकुंतला की रूप-श्री और अपने भाग्य की सराहना करते थे। जब नलिनी-दल पर प्रेम-पत्र लिखा गया, तो तुरत ही प्रकट होकर बोल उठे—

सुमुखि काम तोहिं ताप दै, मोहिं दहत अति पाहिं ;
दिन गलानि जस चंद्र कहँ, तस कुमुदिनि कहँ नाहिं ।

राजा का समयोचित सत्कार किया गया। राजा ने स्वयं अपनी कामदशा प्रकट की। शकुंतला की ओर से उसकी दशा सखियों ने प्रकट की। अब समय पाकर दोनों सखियों ने मृगशावक को उसकी माता के पास ले जाने का बहाना करके

बाहर जाना चाहा। शकुंतला ने रोका; पर वे चतुर थीं, चली गईं। इतना कामक्लेश भुगतने पर भी, और रहस्य-वार्ताओं में भी, शकुंतला ने मुनि के भय से राजा का समागम अस्वीकार किया। परंतु उन्होंने समझाया कि मुनि इस कर्म से अप्रसन्न नहीं होंगे, इसलिये गांधर्व विवाह हो जाना चाहिए।

इन प्रणयी जनों की रहस्य-वार्ता में विघ्न-रूप गौतमी इस समय आ गई। राजा वृक्ष की आड़ में छिप गए, और वृद्धा गौतमी शकुंतला पर कुशोदक छिड़ककर उसे अपने साथ ले गई। इस कुसमय के वियोग से फिर दोनों दुःखित हो गए।

कामियों को इस दुर्दशा में अधिक न रहना पड़ा। उनका गांधर्व विवाह हो गया, और राजा ने अपनी अँगूठी शकुंतला को दे दी। उन्होंने यह भी वादा किया कि अँगूठी पर जितने अक्षर लिखे हैं, उतने ही दिनों के अनंतर मैं फिर आऊँगा।

राजा दुष्यंत अपने नगर चले गए, और शकुंतला उनके विरह में शून्यहृदय-सी हो गई; उसके चित्त में सिवा राजा दुष्यंत के और कुछ नहीं था। इसी दशा में दुर्वासा ऋषि पधारे, जिनके अतिथि-सत्कार का भार शकुंतला ही पर था। पर उसे कुछ सूझता-बूझता नहीं था; सत्कार कौन करे? ऋषि ने कुपित होकर शाप दे दिया कि मुझ-जैसे तपोधन का अपमान करके जिसका तू हृदय से ध्यान कर रही है, वह तुझे भूल जायगा, और बतलाने पर भी नहीं पहचानेगा। इस

शाप का हाल सुनकर प्रियंवदा दौड़ी, और ऋषि के पैरों पर गिर पड़ी। बहुत विनय करने पर महात्मा दुर्वासा कुछ पसीजे, और कहा—शाप का प्रभाव उस समय छूटेगा, जब राजा का दिया हुआ कोई चिह्न उन्हें दिखाया जायगा। मुनि की इस कृपा से फिर सब कार्य बन गया; क्योंकि अभिज्ञान (चिन्हारी) के लिये राजा की अँगूठी मौजूद थी। शकुंतला को इस घटना का कुछ भी हाल नहीं विदित हुआ।

अँगूठी के अक्षरों की संख्या के दिन बीत गए; कुछ अधिक भी समय हो गया; परंतु राजा की कोई ख़बर न मिली। इससे शकुंतला तथा उसकी सखियों को बड़ा खेद था। ये सखियाँ क्रोध में किसी समय राजा को भी बुरा-भला कहने लगती थीं। अस्तु, समय बीतता गया।

कुछ काल के पीछे भगवान् कण्व अपने आश्रम को लौटे, और जब हवन आदि करने के लिये अग्निगृह में गए, तो छंदामयी आकाशवाणी हुई कि—

सकल भुवन कल्यान हित, तव तनया मुनिनाथ;
धारत तेज दुष्यंत को, समी जु पावक साथ।

इस वाणी से मुनि को विदित हो गया कि राजा दुष्यंत ने शकुंतला से गांधर्व विवाह किया है, और उसके गर्भ-स्थिति हो गई है। कण्वजी इससे अप्रसन्न नहीं हुए, बल्कि इसलिये हर्ष प्रकट किया कि शकुंतला को अत्यंत योग्य पति मिला। उन्होंने निश्चय किया कि विवाह हो जाने पर स्त्री

को अपने पति के साथ रहना चाहिए, इसलिये शकुंतला राजा के यहाँ भेज दी जाय। आज्ञा पाते ही सखियाँ फूल चुनने लगीं कि शकुंतला का शृंगार किया जाय। मुनि के प्रभाव से वन-वृक्षों ने राजकन्याओं के योग्य अच्छे-अच्छे भूषण दिए, जिन्हें पहनकर शकुंतला का रूप और भी अलौकिक हो गया। साथ जाने के लिये वृद्धा गौतमी, शार्ङ्गरव नाम मुनि और कईएक शिष्य तैयार हुए।

इस समय का दृश्य अनोखा था; मुनियों की स्त्रियाँ आ-आकर शकुंतला को गले लगातीं, और आशीर्वाद देती थीं कि पति की अत्यंत प्रिया हो; वीर पुत्र उत्पन्न करो; बड़े सौभाग्य और सुख से रहो। अनसूया और प्रियंवदा सोचती थीं कि शकुंतला परम सुख से राजा के साथ रहेगी; परंतु हम लोगों को उससे छूटना कैसा कष्टदायक होगा! विषय-भोगों से निरपेक्ष तपोधन कण्वजी स्वयं विचारते थे कि—

आजु जाइहै प्रेमपात्र, मम दुहिता पति घर;
हृदय मोर उत्कंठ करत, मोहि अति चिंता-जड़।
कंठ होहि गद्गदित, अस्रु पुनि रोकहुँ गाढ़े;
बनवासी मम विषयहीन के, अस दुख बाढ़े।
पोषित पुत्रि-वियोग महँ, कष्ट-दशा यह अनुभवहुँ;
औरस तनया छिता करि, कस न गृही मन दुःख बहु।

शकुंतला ने मुनि को यथोचित प्रणाम किया, और यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा की। मुनि ने हार्दिक आशीर्वाद देकर अपना

दुःख प्रकाशित किया। अब सखियों की बारी आई। शकुंतला ने उन्हें गले लगाकर अपने हाथ की सींची वन-ज्योत्स्ना नाम लता का पालन उन्हें सौंपा। अत्यंत प्रिय आश्रम-मृगी मुनि को सौंपकर शकुंतला ने विनय की कि जब इसके बच्चा उत्पन्न हो, तो मुझे उसकी ख़बर देना। इस समय पुत्र के समान पाला हुआ मृग भी आ-कर जाती हुई मुनिकन्या के पैरों में अपने अंग घिसने लगा था।

जल के समीप पहुँचने पर सब लोग खड़े हो गए। भगवान् कण्व ने शार्ङ्गरव के हाथ राजा को संदेश भेजा कि स्वयं किए हुए योग्य स्नेह का पालन करके शकुंतला को धर्मपत्नी बनाइए। उन्होंने कन्या को जो उपदेश दिया, वह श्लाघ्य है—

सकल गुरुन सेवा करहु, सौतिन सों करु प्रीति ;
पति ज्यदपि रोषहु करहिं, धरहु न अनुचित रीति।
परिजन पर ममता करहु, भाग्य पाय नहिं मान ;
गृहिनी लच्छन सुभ यही, अन्य मिटै कुलकान।

शकुंतला बार-बार दयालु मुनि के चरण छूती थी, अपने वियोग का दुःख जताती थी, और फिर बुलाने के लिये विनय करती थी। मुनि भी उत्तम-उत्तम शिक्षा देकर सम-झाते और धैर्य देकर दुःख मेटते थे। इस प्रकार पिता और सखियों से मिलकर शकुंतला आगे बढ़ी, और मुनि भी

कातर सखियों को समझाते और अपना कर्तव्य पूर्ण कर देने पर संतोष प्रकट करते हुए आश्रम को लौटे।

राजधानी को जाते समय मार्ग में शक्रावतार-नामक तीर्थ मिला। शकुंतला ने पुण्य-स्थान जानकर हाथ उठाकर इंद्र को नमस्कार किया। इस क्रिया में प्रमादवश वह अँगूठी जल में गिर पड़ी, जो राजा ने चिह्न के लिये दी थी। राजधानी में पहुँचने पर राजा को ख़बर दी गई। वह पवित्र होकर अग्निगृह में कण्व मुनि के भेजे हुए ऋषियों से मिलने गए; परंतु सोचते जाते थे कि कहीं कोई अपराध तो नहीं हुआ, जिससे महात्मा कण्व रुष्ट हो गए हों? शकुंतला का संपूर्ण वृत्तांत राजा को भूल गया था। यह दुर्वासा ऋषि के शाप का प्रभाव था। ऋषिकन्या को देख-देखकर राजा उसके लावण्य की प्रशंसा मन-ही-मन करते थे; पर उन्हें गांधर्व विवाह का कुछ भी चेत नहीं था। शार्ङ्गरव ने मुनि का संदेश सुनाया, जिससे राजा विस्मित हो गए। अस्वीकार देखकर शकुंतला का हृदय काँपता था, और उसके साथी घबराते थे। गौतमी ने अँगूठी दिखाने के लिये कहा; पर अँगूठी तो शक्रावतार में गिर गई थी। शकुंतला ने उसे ढूँढ़ा, पर वह न मिली। इस पर राजा को संदेह हुआ कि यह लोग अँगूठी का बहाना करते हैं, और मुझे छलना चाहते हैं। शकुंतला ने राजा को बहुत-सी बातें ऐसी सुनाईं, जो गांधर्व विवाह के समय हुई थीं, जिससे उन्हें स्मरण

हो आवे; पर ऋषि का शाप दुस्तर था, राजा को कुछ भी स्मृति न हुई। ज्यों-ज्यों वे लोग प्रमाण देकर कहते थे, त्यों-त्यों राजा का संदेह और भी बढ़ता जाता था, और वह स्त्रियों के छल पर हास्य करते थे। शकुंतला को इस अनीति पर क्रोध आया, उसके नेत्र लाल हो गए, भृकुटी चढ़ गईं। शार्ङ्गरव और गौतमी भी झुँझला उठीं। कोप-युक्त बातें होने लगीं।

इस विवाद को सुनकर राजा को कभी-कभी यह भी संशय हो जाता था कि कदाचित् मैंने इस स्त्री से गांधर्व विवाह किया हो; परंतु उसका स्मरण नहीं आता। शार्ङ्गरव को भी कुछ शंका हुई कि कदाचित् शकुंतला ही झूठ बोलती हो। सब-के-सब धर्मसंकट में पड़े थे। राजा को यह संकट था कि यदि शकुंतला से गांधर्व विवाह किया हो, तो उसका त्याग अनुचित है; और यदि न किया हो, तो ग्रहण अनुचित है। कोई निश्चय नहीं होता था। बेचारे शार्ङ्गरव इस समय क्या कर सकते थे, केवल वाग्युद्ध का बल था।

राजा ने निरुपाय होकर स्त्रियों के छल का उपालंभ किया—

अमानुषीहू तियन में, बिना कछुक उपदेस;
होत है बंचन-चातुरी, सिच्छित में तो बिसेस।
कोकिल पच्छी अंड निज, काक-नीड़ महँ राखि;
तबहिं उड़त आकास में, यह देखहु छल साखि।

शार्ङ्गरव की बुद्धि भी कुंठित नहीं थी, और न इस समय राजा-प्रजा का विचार था। उन्होंने उत्तर दिया—

> जन्म-दिवस से जौन जन, सठता सीखी नाहिं ;
> ताके मन मैं भूपवर, छल-बल तुमहिं लखाहिं।
> विद्या करि जिन सीखेउ, पुनि पर-वंचन वृत्ति ;
> तव समान ते जन नृपति, करहिं कबहुँ सुभ कृत्ति।

इस वाग्विवाद से कोई लाभ नहीं था, इसलिये राजा व शकुंतला, दोनों को बुरा-भला कहकर शार्ङ्गरव आदि चलने लगे, और उस अनाथ स्त्री को वहीं राजा के पास छोड़ देना चाहा। परंतु पुरोहित ने राजा से कहा कि साधुओं के वाक्यानुसार आपका प्रथम पुत्र चक्रवर्ती होगा। यह मुनि-कन्या गर्भवती है, इसलिये इसे अलग रक्खो। यदि इससे उत्पन्न पुत्र में चक्रवर्ती के लक्षण हों, तो अवश्य यह ग्राह्य है; अन्यथा इसे कण्वजी के पास भेज दीजिएगा।

राजा इस बात को मान गए, और ज्यों ही शकुंतला रोती-चिल्लाती बाहर निकली कि अप्सरा-तीर्थ के समीप से आकर स्त्री-वेष एक ज्योति ने उसे उठा लिया, और अंतरिक्ष में कर रक्खा। यह ज्योति साक्षात् मेनका थी, जो अपनी कन्या का दुःख देख न सकी, और उसने उसे ले जाकर भगवान् कश्यप के स्थान में रक्खा। इस घटना से सबको बड़ा भारी अचंभा हुआ।

महात्मा कश्यप के स्थान में शकुंतला के पुत्र उत्पन्न हुआ,

जिसमें सार्वभौम चक्रवर्ती के संपूर्ण लक्षण थे। घुटनों तक पहुँचनेवाले लंबे बाहु थे; हाथ कोमल, अरुण, धनुष अंकुश आदि रेखाओं से युक्त, जाल से ग्रथित उँगलियोंवाले थे। उसमें व्याघ्र-सिंहों के दमन करने की भी शक्ति थी। कश्यप-जी ने बालक का नाम सर्वदमन रक्खा, और क्षत्रियोचित सब संस्कार विधिवत् किए।

राजा के यहाँ भी कुछ दिनों में एक ऐसी घटना हुई, जिससे सब माया उलट गई। राजा की अँगूठी, जो शकुंतला के हाथ से शक्रतीर्थ में गिर पड़ी थी, एक रोहू-मछली के पेट में चली गई। धीवर ने जाल में बहुत-सी मछलियाँ पकड़ीं, जिनमें यह भी पड़ गई। उसे इस मछली के पेट में यह बहुमूल्य वस्तु मिली, जिसके विक्रय के लिये वह बाज़ार गया। वहाँ पर राजपुरुषों ने राजा के नाम से अंकित वह अँगूठी पहचानी, और धीवर को बाँधकर नगर के कोतवाल के सामने कर दिया। निरुपाय मत्स्यजीवी पर व्यर्थ ही मार और गालियों की बौछार होती थी। वह सच्चा वृत्तांत बत-लाने पर भी नहीं छोड़ा जाता था, इस चोरी का दंड निश्चित करने के लिये कोतवाल ने राजा से कहा, और वह अँगूठी दिखलाई। अब तो राजा को शकुंतला का पूरा आख्यान स्मरण आ गया। उस समय किसी प्रकार धैर्य धारण करके उन्होंने धीवर को छोड़ देने की आज्ञा दे दी, और उस अँगूठी का मूल्य उसे दिया। परंतु अब अपने

किए कर्म का पछतावा कहाँ मिट सकता था? दुर्वासा ऋषि का शाप अँगूठी देखने से मिट गया, और फिर शकुंतला का अगाध प्रेम उमँगने लगा।

राजा को अकथनीय पश्चात्ताप था; गांधर्व विवाह के समय की एक-एक बात मन में चुभी-सी जाती थी; शकुंतला के एक-एक अंग का स्मरण हृदय को विदीर्ण-सा करता था; विनय करने पर भी उसका जो अपमान किया था, उससे प्राण कंठगत-से हो रहे थे; अनीति का फल क्षण-क्षण अनुभूत हो रहा था; विरह-दशा अपना पूरा प्रभाव दिखा रही थी। खाना-पीना भी छूट गया, शरीर में ज़रदी छा गई; धन-धान्य सब तुच्छ लगने लगा; संसार शून्य-सा प्रतीत होने लगा। राजकाज नहीं हो सकता था। मंत्रियों को आज्ञा मिल गई कि जो काम अत्यंत ही आवश्यक हो, वह लिखकर भेज दिया जाय, शेष छोटे-छोटे काम स्वयं निबाह लिए जायँ। हर प्रकार के भोग्य पदार्थ तथा उत्सव आदि काँटे-से लगते थे, इसलिये नगर में वसंतोत्सव भी बंद कर दिया गया। यदि कोई व्यक्ति बिना जाने भी किसी प्रकार का ऋतूत्सव करता था, तो राजा की ओर से दंडनीय होता था। सब नगर में उदासी छा गई, यहाँ तक कि वसंत ऋतु के पक्षी और वृक्ष भी मलिन-से दिखलाई देते थे।

ऐसे समय एकत्र बैठने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। विदूषक मांढव्य यथाशक्ति अपने हास-परिहास से उनको

प्रसन्न करना चाहता था। परंतु राजा का प्रसन्नता-बीज ही नष्ट-सा हो गया था। इस कामावस्था में निद्रा भी नहीं आती थी कि कुछ काल के लिये तो चित्त स्वस्थ हो। यदि आई भी, तो स्वप्न में सारा संसार शकुंतलामय देख पड़ता था। राजा ने कातर होकर चित्रफलक पर शकुंतला और उसकी सखियों का चित्र खींचा। इस चित्र का इतना मान था कि उँगली का पसीना लगना महापाप माना जाता था। इसके बनाने में राजा ने अपनी संपूर्ण कलाभिज्ञता दिखला दी। देखते-देखते इतने मुग्ध हो गए कि उसके चित्र होने का ज्ञान जाता रहा। चित्र-गत शकुंतला के मुख पर भ्रमर का आक्रमण देखकर राजा ने हथियार उठाना चाहा; पर विदूषक ने कह दिया—यह तो चित्र है। फिर माया जाती रही, और वही पश्चात्ताप प्रारंभ हुआ।

इतने पर भी दुःख की समाप्ति नहीं थी। पटरानी वसुमती का अलग भय था। वह अन्य स्त्री के लिये राजा की यह दशा देखकर कुपित थीं। चित्र पूरा करने के लिये वर्तिका लेने को चतुरिका बाहर गई थी। उसे मार्ग में रानी वसुमती उसी ओर आती हुई मिल गईं। वर्तिका छीन ली गई; पर वह स्वयं किसी प्रकार बचाकर राजा के पास आ गई। रानी के आने का हाल पाकर सब लोग सचेत हो गए, और चित्र-फलक छिपा दिया गया। द्वार पर प्रतीहारी के हाथ में राज्य-प्रबंध-संबंधी पत्र देखकर रानी लौट गईं।

यह पत्र भीतर आया ; विदित हुआ कि धनमित्र-नामक समुद्र का व्यापारी नाव के डूब जाने से मर गया। उसके कोई संतान न थी, इसलिये उसका धन राजा के कोष में आना चाहिए था। राजा ने आज्ञा दी—यदि उसकी कोई स्त्री गर्भवती हो, तो धन भावी पुत्र के नाम लिख दिया जाय। इस घटना से राजा को अपनी अनपत्यता का स्मरण हुआ, जिससे वह और भी दुखी हुए। विशेषकर इसलिये कि शकुंतला के संतान होनेवाली थी, वह कुछ ही दिनों में पुत्र-रत्न उत्पन्न करती।

जिस समय से राजा की यह कामावस्था थी, उसी समय से सानुमती नाम की अप्सरा, जो मेनका की प्रिय सखी थी, अपनी दिव्य तिरस्करिणी-विद्या द्वारा अंतर्धान होकर सब चरित्र देख रही थी। शकुंतला के त्याग पर इसे बड़ा दुःख था; परंतु राजा की इस अवस्था को देखकर वह समझ गई कि इसमें इनका दोष नहीं है, किसी अदृष्ट कारण से ऐसी शोकजनक घटना हो गई है। राजा की ऐसी दीन-हीन दशा देखकर उसने पहले समाश्वासन करने का विचार किया; परंतु यह सोचकर कि इंद्र की माता अदितिदेवी ने शकुंतला को पति से मिला देने का आशीर्वाद दिया है, वह चुप हो रही, और राजा का वृत्तांत कहने के लिये कश्यपजी के आश्रम को चली गई।

यद्यपि राजा दुष्यंत की दशा इस समय शोचनीय थी,

तथापि यह कोई सामान्य राजा नहीं थे। इन्होंने इंद्र को भी यज्ञों के द्वारा प्रसन्न कर रक्खा था। अतः महाराज इंद्र को राजा की दशा पर दया आई। उन्होंने अपने सारथि मातलि को रथ लेकर उसे, उचित शिक्षा देकर, इनकी सहायता के लिये भेजा। मातलि ने सोचा, यदि वैसे ही जाकर राजा को इस बुरी दशा में इंद्र का संदेश सुनाया जायगा, तो उसका प्रभाव अधिक नहीं पड़ेगा, इसलिये किसी प्रकार क्षत्रिय राजा का क्रोध उभारना चाहिए, जिससे शकुंतला की याद भूल जाय और वीर-रस चढ़े। इसी अभिप्राय से मातलि ने अदृश्य होकर विदूषक को पकड़ लिया, और सबसे ऊँचे कोठे पर जाकर उसका अंग-भंग करना आरंभ कर दिया। बेचारा ब्राह्मण चिल्लाता और त्राहि-त्राहि पुकारता था। राजा ने धनुष लेकर और कोठे पर जाकर विदूषक को छुड़ाना चाहा; पर अदृष्ट पुरुष ने दुष्यंत को अपमान-सूचक दो-चार बातें कहीं। राजा का क्रोध भड़क उठा। उन्होंने अदृष्टवेधी बाण से अदृष्ट अपराधी को मारना चाहा। इतने में विदूषक को छोड़कर मातलि प्रकट हो गए। राजा ने इनका सत्कार करके हाल पूछा। मातलि ने कहा—कालनेमि के पुत्र दानवगण बड़े वीर हैं, उन्हें मारने के लिये महाराज इंद्र ने आपको बुलाया है। राजा ने प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञा स्वीकार किया, और अपने लौटने के समय तक राज्य का पूरा भार मंत्रियों पर छोड़ रथ पर चढ़कर स्वर्ग को चले।

राजा ज्यों-ज्यों ऊपर जाते थे, त्यों-त्यों दूरता के कारण पृथ्वी के पदार्थ छोटे दिखाई देते थे; बड़ी-बड़ी नदियाँ नालियों के समान भासित होती थीं, बड़े-बड़े पहाड़ खेल-से ज्ञात होते थे। अंतरिक्ष में नवीन-नवीन स्थान मिलते थे, जिन पर बातें और राजा इंद्र की उदारता की प्रशंसा करते हुए ये लोग हेमकूट के समीप पहुँचे, जो किंपुरुष लोगों का पर्वत था, और जहाँ साक्षात् ब्रह्मा के पोते, मरीचि के पुत्र, और इंद्रादि देवतों के पिता महात्मा कश्यपजी, अपनी धर्म-पत्नी अदिति-सहित, तपस्या करते थे। यह वृत्तांत जानकर राजा की इच्छा हुई कि मुनि-दर्शन करके तब आगे बढ़ें। मातलि ने रथ रोककर भगवान् कश्यप का आश्रम दिखा दिया, और रथ वहीं छोड़कर स्वयं बृहस्पतिजी को राजा के आगमन का वृत्तांत सुनाने चले गए।

राजा का दक्षिण बाहु फड़कने लगा, जिससे कुछ आगामी मनोरथ-सिद्धि की आशा हुई। इन्होंने देखा, दो तापसी स्त्रियाँ एक सत्वधारी बालक को खिला रही हैं। बालक ऐसा चंचल था कि सिंही के स्तन से दूध पीते हुए सिंह के बच्चे को बार-बार हठ करके खींचता, और उसका मुँह खोलकर दाँत गिनता था। तापसियों को यह बात अच्छी नहीं लगती थी कि अपने बच्चों की तरह पाले हुए जीवों को दुःख पहुँचे। ऐसे साहसी बालक को देखकर राजा का हृदय प्रेम से आर्द्र हो गया। इतने में तापसियों ने बालक

से कहा—इस जीव को छोड़ दो, हम तुम्हें खेलने के लिये दूसरी वस्तु देंगी। इस पर बालक ने हाथ फैलाकर कहा—अच्छा दो। राजा ने पसारे हुए हाथ में चक्रवर्ती के लक्षण देखे।

राजा मन-ही-मन उसके भाग्य को सराहते थे, जिसका यह पुत्र था। इसकी चपलता देखकर एक तापसी ने राजा से कहा—सिंह को इसके हाथ से छुड़ा दो। राजा ने बालक को ऋषिकुमार कहकर पुकारा, जिस पर तापसी ने बतलाया कि यह ऋषिकुमार नहीं है। उसने यह भी कहा कि आपकी और इस बालक की आकृति मिलती है। पूछने पर यह भी ज्ञात हुआ कि वह पुरुवंशीय राजा का पुत्र है। पुरु-वंश का नाम सुनते ही राजा को कुछ आशा हुई कि कदाचित् यह शकुंतला का पुत्र हो। फिर तापसी ने बतलाया कि अप्सरा के संबंध से यह बालक यहाँ पर है, अन्यथा मनुष्य का प्रवेश यहाँ कैसे हो सकता है। राजा की आशा और भी बढ़ी। पिता का नाम पूछा। तापसी ने ऐसे भार्या-परित्यागी राजा का नाम लेना पाप समझकर न बतलाया। बालक की माता का नाम पूछना अयोग्य था।

इसी समय अन्य तापसी मिट्टी का बना मयूर लेकर आई, और बालक से कहने लगी कि इस शकुंत-लावण्य (पक्षी की शोभा) को देखो। बालक ने कहा, यह तो मेरी माता का नाम है। राजा को पूर्ण आशा हो गई; परंतु निश्चय नहीं होता था।

खेलते-खेलते बालक के हाथ से 'रक्षायंत्र' गिर गया, जिसे राजा ने उठा लिया। तापसियों को इससे बड़ा अचंभा हुआ; क्योंकि भगवान् कश्यप ने अपराजिता नाम औषध से यह यंत्र बनाकर पहना दिया था, और कह दिया था कि इसके गिर पड़ने पर स्वयं बालक या माता-पिता के अतिरिक्त यदि कोई अन्य छू लेगा, तो यह यंत्र सर्प होकर उसे डस लेगा। इस बात को जानकर राजा को पूर्ण विश्वास हो गया कि यह बालक शकुंतला का पुत्र है। तब उन्होंने उसे हृदय से लगा लिया। तापसियाँ शकुंतला से यह हाल कहने के लिये दौड़ीं।

थोड़ी देर में मैले कपड़े पहने, सिर पर बालों की एक वेणी बाँधे, दुबली शकुंतला आई, और विरह-दुःखित राजा को देखकर मन-ही-मन अपना भाग्य सराहने लगी। उसे इतनी उत्कंठा थी कि उसका स्वर गद्गद हो गया, और मारे प्रेम के उससे कुछ कहा नहीं जाता था। राजा ने उसके पैरों पर गिरकर अपना अपराध क्षमा कराया, और अँगूठी पाकर स्मरण आने की प्रवृत्ति कही।

तब तक मातलि अपने कार्य से लौट आए, और राजा, शकुंतला व बालक को लेकर भगवान् कश्यप के दर्शन के लिये गए। राजा को देखकर मुनि बहुत प्रसन्न हुए, और उनकी प्रशंसा अदितिजी से करने लगे। कश्यप व अदिति, दोनों ने राजा व शकुंतला को बड़े-बड़े आशीर्वाद दिए, और

बतलाया कि दुर्वासा ऋषि के शाप से राजा को स्मृति-विभ्रम हो गया था; परंतु अंगुलीयक को देखकर शाप से मुक्ति हुई। अब शकुंतला को भी बोध हो गया कि राजा ने अभिमान से परित्याग नहीं किया था।

भगवान् कश्यप ने शकुंतला के बालक को देखकर कहा—मैं इसके सब संस्कार कर चुका हूँ। यह समुद्रों को पार करके सप्तद्वीपवती पृथ्वी को जीतेगा। सब जीवों को दमन करने की शक्ति से अभी इसका नाम सर्वदमन है। अब लोक का भरण-पोषण करेगा, इसलिये इसका भरत नाम होगा। इन्हीं राजा भरत के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाता है।

राजा दुष्यंत के संपूर्ण मनोरथ सिद्ध थे, तथापि अदिति के कहने से कश्यपजी ने अपने शिष्य गालव को आकाश-मार्ग से कण्व मुनि के पास भेजा कि उन्हें भी शकुंतला के ग्रहण का वृत्तांत ज्ञात हो जाय। फिर दयालु मुनि ने राजा को स्त्री-पुत्र-समेत इंद्र के रथ पर बिठाकर अपनी राजधानी भेज दिया। चलते समय राजा ने भगवान् कश्यप से यह वर माँगा—

प्रजा सुमंगल करन हित, जतन करहिं महिपाल;
सक्तिमान कबिरत्न पर, सरस्वति होय दयाल।
बिस्वेस्वर गिरिजारमन, करहिं कृपा दिन-रात;
इहि संसार कराल को, दुःख समय परात।

विक्रमोर्वशीय

किसी समय उर्वशी, रंभा, मेनका आदि अप्सराएँ कुबेर की सेवा से निवृत्त होकर आकाश-मार्ग से इंद्रलोक को जा रही थीं। मार्ग में केशी नाम के दैत्य ने उन पर आक्रमण किया, और उर्वशी और उसकी सखी चित्ररेखा को हठात् बंदी करके अपने पुर की राह पकड़ी। ऐसे बली दानव के सामने बेचारी देवांगनाओं की क्या चलती? आर्त स्वर से क्रंदन करने और सहायतार्थ चिल्लाने के सिवा इन अबलाओं से और क्या हो सकता था?

इसी समय महाराज पुरूरवा सूर्योपस्थान से निवृत्त हुए थे। यह चंद्रवंशी राजा थे, और इनकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर (त्रिवेणी के पास झूँसी) में थी। इन्होंने ज्यों ही अप्सराओं का आर्त नाद सुना, त्यों ही तत्क्षण रक्षार्थ वहाँ पहुँच गए। पूछने से ज्ञात हुआ कि वह दुष्ट दैत्य ईशान-कोण की ओर भागा है। निदान चिल्लाती हुई अप्सराओं को हेमकूट पर प्रतीक्षा करने का वचन देकर राजा पुरूरवा ने अपना रथ मँगाया, और अत्यंत शीघ्रता से केशी दैत्य का पीछा किया।

थोड़ी ही देर में कराल दैत्यों को परास्त करके और लवण-समुद्र में डालकर राजा ने दोनों अप्सराओं को रथ पर बिठा लिया।

इधर शेष अप्सराएँ केशी दैत्य के बल तथा राजा की विजय-संभावना पर वार्तालाप करती हुई नियत हेमकूट पर समय बिताती थीं। राजा का रथ अपनी ओर आता हुआ देखकर सब प्रफुल्लित हो उठीं। परंतु उर्वशी का हृदय इतना भय-विह्वल हो गया था कि बहुत काल पश्चात् चेतना हुई। उर्वशी के अलौकिक रूप को देखकर राजा को भ्रम होता था कि ऐसी सर्वांग-सुंदरी स्त्री नारायण ऋषि के जानु से क्योंकर उत्पन्न हुई? यथावकाश उन्होंने ऐसे प्रीतिसूचक शब्दों का प्रयोग किया, जिनसे उनके मन का कामविकार प्रत्यक्ष होता था। कामियों को अल्प दर्शन-स्पर्शन से भी अत्यंत सुख मिलता है; इसीलिये रथ के हिलने-डुलने के मिस से भी यदि उर्वशी राजा को पकड़ लेती थी, तो वह अपने को कृतकृत्य मानते थे।

अब रथ हेमकूट पर पहुँच गया। उस समय की उत्कंठा वर्णनातीत थी। हर ओर से अप्सराएँ उर्वशी का आलिंगन करती और बड़े उपकार के बदले में राजा को कोटिशः आशीर्वाद देती थीं। इसी बीच में चित्ररथ गंधर्व भी आए। इन्हें इंद्र ने एक बड़ी सेना के साथ भेजा था कि जाकर दैत्यों से युद्ध करें और उर्वशी को छुड़ावें। परंतु उन्होंने

चारणों से राजा की विजय का हाल सुनकर धन्यवाद देने के लिये राजा के पास आना उचित समझा, और उनसे इंद्रलोक चलने की विनय की। राजा ने समयानुसार इंद्र की प्रशंसा की, और न जाने के लिये क्षमा माँगी।

अप्सराओं ने हर्ष-पूर्वक चित्ररथ के साथ इंद्रलोक जाने की तैयारी की। परंतु उर्वशी को हर्ष कहाँ? उसका चित्त तो पुरूरवा के रूप के फंदे में पड़ गया था। उसे राजा के रूप पर ऐसी आसक्ति हो गई कि चलते-चलते लता में कपड़ा उलझने के बहाने उसने दूसरी ओर मुख कर लिया, और जब तक सखी उसे छुड़ाती रही, तब तक वह बराबर राजा की ओर टकटकी बाँधकर देखती रही।

सखी भी उसके मन की वृत्ति समझ गई थी, इसलिये जल्दी नहीं करती थी। राजा इस अवसर को धन्य मानकर, अप्सराओं के चले जाने पर, अपने महल को सिधारे।

यह स्वाभाविक धर्म है कि चित्त में उत्कृष्ट प्रेम एक ही व्यक्ति के लिये हो सकता है। अतः जब से राजा का मन उर्वशी में लगा, तभी से अपनी पटरानी औशीनरी पर उनकी श्रद्धा कम हो गई। महारानी ने इसे ताड़ लिया, और यथार्थ हाल जानने के लिये अपनी विश्वस्त चेटी (दासी) को भेजा कि वह विदूषक से धोका देकर पूछे।

राजा ने संपूर्ण गुप्त वृत्तांत विदूषक से बतला दिया था। जब कि वह देवच्छंदक प्रासाद में बैठा हुआ राजा के धर्मा-

सन से लौटने की राह देख रहा था, उस समय रानी की भेजी चेटी भी वहीं आ पहुँची। विदूषक को यह शक्ति नहीं थी कि वह किसी रहस्य-वृत्तांत की रक्षा करता। उसके पेट में बात पच नहीं सकती थी। चेटी को देखते ही उसे प्रतीत होने लगा कि राजा की बात पेट फाड़कर निकलना चाहती है। उधर चेटी की बातचीत मीठी बातों और चालाकी से पूर्ण थी। उसने कहा, जिस स्त्री के लिये राजा को इतनी उत्कंठा है, उसी का नाम लेकर उन्होंने महारानी का संबोधन किया, जिससे सब भेद खुल गया है। अब विदूषक ने सोचा, जब महाराज ने स्वयं अपनी चोरी खोल दी, तो मैं क्यों छिपाऊँ? उसने तुरंत ही उर्वशी का नाम बतला दिया। चेटी चली गई, आप वहाँ पर विराजमान रहे।

धर्मासन से उठकर राजा भी उसी ओर पधारे, और अपनी कामावस्था के संबंध में विदूषक से बातें करने लगे। विदूषक अपने सपरिहास के द्वारा यथाशक्ति राजा का चित्त-विनोदन करता था। विशेषकर जब उन्हें मालूम हुआ कि विदूषक की मूर्खता से सब रहस्य-भेद हो गया है, तो और भी उनकी घबराहट बढ़ी। जब किसी प्रकार शांति न देखी, तो वहाँ से प्रमद-वन गए। परंतु वहाँ की शीतल, मंद, सुगंध वायु, कुंद, सहकार, अशोक, कदंब आदि वृक्षों की शोभा तथा वसंत ऋतु की छटा ने राजा को और भी विरह-विकल बना दिया।

यह विकलता राजा ही को नहीं, उर्वशी को भी थी। राजा तो किसी प्रकार समय बिताते भी थे, पर अप्सरा को कल नहीं थी। वह अपनी सखी चित्ररेखा को साथ लेकर, और तिरस्करिणी-विद्या से दोनों को अदृश्य बनाकर, प्रमद-वन में पहुँची, और राजा का विश्रंभालाप सुनने लगी। जब तक उसने विदूषक के मुख से अपना नाम न सुन लिया, तब तक उसे विश्वास न हुआ कि राजा मेरे ही लिये उत्सुक हो रहे हैं। राजा के दीन व निराश वचन सुनकर उर्वशी से न रहा गया। उसने चित्ररेखा की अनुमति से भूर्जपत्र पर काम-लेख लिखकर छोड़ दिया, जिसे विदूषक ने हाथ में उठाकर हास्य में कहा कि कदाचित् उर्वशी की चिट्ठी हो। पर यथार्थ में बात ऐसी ही थी। राजा ने उसे पढ़ा, और विदूषक को भी सुनाया। उसमें लिखा था—

स्वामी जस संभावन कीन्ह्यो मोहिं अजान बनायकै ;
तामें कछु अपराध नहीं, यह दसा प्रेम में आयकै।
पारिजात-सयनीयहु पर मोहिं नहीं सांति को लेस है ;
नंदन-बन की त्रिविध बयारी मानहु अग्नि-बिसेस है।

पत्र पढ़ते ही राजा के रोमांच होने लगा। महासागर में डूबते हुए को जलयान-सा मिला। इस पत्र पर ऐसा आदर था कि स्वेद से बचाने के लिये उन्होंने उसे विदूषक को दे दिया। उर्वशी को अब भी संतोष नहीं था। उसने चित्ररेखा से कहा कि तिरस्करिणी का प्रभाव दूर करके राजा के सामने

प्रकट हो जाओ। पश्चात् स्वयं भी प्रकट हुई। राजा ने बड़े हर्ष, प्रेम और आदर से आसन पर बिठा लिया। इस समय का सुख वर्णन नहीं किया जा सकता। परंतु बहुधा ऐसा सुख अल्पकालिक ही होता है। एक देवदूत ने आकर संदेश सुनाया कि महाराज इंद्र वह नाटक देखना चाहते हैं, जो भरत मुनि ने बनाकर अप्सराओं को सिखलाया है, इसलिये उर्वशी को शीघ्र इंद्रलोक पहुँचना चाहिए। इस संदेश से रंग में भंग तो अवश्य हुआ, पर इंद्र की आज्ञा सर्वथा माननीय थी। कुछ प्रेम-वार्ता के अनंतर उर्वशी चली गई, और राजा ठंडी साँसें भरते रहे।

विदूषक का ध्यान इन प्रेमियों की लीला देखने में लगा था, भूर्जपत्र हाथ से छूटकर वायु में उड़ गया। राजा का चित्त अब कहाँ रमे? फिर उसी भूर्जपत्र का स्मरण हुआ। परंतु वह तो पहले ही उड़ गया था। विदूषक ने ढूँढ़ने में बहुत कुछ परिश्रम किया; पर सब व्यर्थ हुआ।

उधर चेटी ने आकर रानी औशीनरी से सब वृत्तांत कहा, तो उन्हें तीव्र आकांक्षा हुई कि चलकर यथार्थ हाल जानना चाहिए। अतः उसी चेटी के साथ वह प्रमद-वन को आईं। दैववशात् वह भूर्जपत्र उड़कर उनके पैर में लगा। चेटी ने उठाकर पढ़ा, और रानी को सुनाया। कथा का प्रकरण तो ज्ञात ही था, स्पष्ट प्रकट हो गया कि यह उर्वशी का प्रेम-पत्र है।

विदूषक अभी तक भूर्जपत्र वृथा ढूँढ़ रहा था, और उसके न मिलने पर राजा पश्चात्ताप कर रहे थे। इतने में रानी ने प्रकट होकर वही पत्र राजा के हाथ में रख दिया। चुराया गया धन पास लिए हुए चोर की जो दशा होती है, वही दशा इस समय राजा पुरूरवा की थी। पहले तो उन्होंने बात छिपाने का उद्योग किया, परंतु अंत को विवश होकर उन्हें अपना अपराध मानना पड़ा, और रानी से क्षमा के लिये प्रार्थना करनी पड़ी। रानी को इस समय इतना कोप था कि उन्होंने राजा का अनुनय स्वीकार न किया, और बड़े मान के साथ लौट गईं।

इस दुर्घटना से राजा को बड़ा खेद हुआ। पर उपाय क्या था? स्नानादि क्रिया करने के लिये राजा और विदूषक घर को गए; क्योंकि दोपहर का समय आ गया था, जिसमें—

बैठे आतप में तपे द्रुम तले त्यों हीं जलोत्संग में;
भौंरे भी कलियाँ विदारि करें स्वच्छंद नारंग में।
हारीतादिक पच्छि भी चलि भले आए सरस्तीर पै;
क्रीड़ा के गृह-पींजरे सुकन को आसा लगी नीर पै।

देवदूत ने जिस नाटक के लिये उर्वशी को संदेश दिया था, वह लक्ष्मीस्वयंवर नाटक था। उसमें उर्वशी तो लक्ष्मी बनी, और मेनका वारुणी। जब वारुणी ने लक्ष्मी से पूछा कि त्रिलोकी के पुरुष, लोकपाल, विष्णु, सब उपस्थित हैं, किसमें आपकी रुचि है, उस समय लक्ष्मी को कहना था कि

'पुरुषोत्तम' में। परंतु उर्वशी (जो लक्ष्मी के स्थान में थी) के चित्त में पुरूरवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, इसलिये प्रमाद से उसने कह दिया—'पुरूरवा' में। इस अशुद्धि पर भरत मुनि ने शाप दे दिया कि मेरे उपदेश को लंघन करने के कारण तू स्वर्ग से पतित हो जायगी। परंतु इंद्र को दया आई। उन्होंने निर्णय कर दिया कि यदि तेरा चित्त मेरे मित्र पुरूरवा में लगा है, तो यथेच्छ उनके पास जा, और जब तक वह तेरी संतान का मुख न देखें, वहीं रह। अब तो मुनि का शाप आशीर्वाद-सा हो गया, और उर्वशी अपनी सखी चित्र-रेखा के साथ आकाश-मार्ग से राजा के यहाँ चली।

इतने समय में राजा के यहाँ का रंग भी बदल गया था। रानी औशीनरी ने प्रथम तो कोप से राजा का अनुनय न माना और उन्हें क्षमा न किया, परंतु कुछ काल में पश्चात्ताप करके उन्हें प्रसन्न करने का उपाय सोचा। उपाय यह था कि प्रिय-प्रसादन-नामक व्रत करके चंद्रोदय के समय चंद्रमा की पूजा की जाय, और राजा को स्वच्छंदता दी जाय कि जिससे चाहें, प्रेम करें। इस बात का संदेश राजा को निपुणिका और कंचुकी के द्वारा दिया गया। वह कुछ समय पहले ही से विदूषक को लेकर 'मणिहर्म्यपृष्ठ' पर आ बैठे, और चंद्रोदय की प्रतीक्षा करने लगे। यह काम केवल रानी के अनुरोध से किया था, परंतु मन उर्वशी ही में लगा था। समय बिताने के लिये विदूषक अनेक प्रकार के तर्क और हास्य करता था।

चंद्रोदय का समय आया, पूर्व दिशा में प्रकाश फैलने लगा, क्रम से चंद्र-बिंब निकला, जिसे देखकर विदूषक को मोदक-खंड का स्मरण हुआ और उसके मुँह में पानी भर आया। राजा ने अपने कुल के प्रवर्तयिता चंद्रमा की स्तुति की—

सज्जन क्रिया करावन हेता;
रबि महँ प्रबिसत ओषधि-नेता।
प्रतितिथि घटत कला जोइ-जोई;
तर्पत सुर-पितरन्ह कहँ सोई।
निसा समय प्रचंड अँधियारी;
खंडन दै निज कर-उजियारी।
पारबतीपति चूड़ा गामी;
नमो-नमो मृगलांछन स्वामी।

चंद्रप्रभा फैलने से दीपकों की आवश्यकता न रही, इसी मिस से राजा ने सेवकों को बाहर भेजकर विश्रंभालाप छेड़ा। विदूषक ने कार्य-सिद्धि की आशा दिलाई, जो दक्षिण बाहु के फड़कने से और भी पक्की हो गई। इस आशापूर्ति में विलंब नहीं था; क्योंकि उर्वशी और चित्ररेखा तीव्र उत्कंठा के कारण नाना प्रकार की रसमय, हास्यमय, उत्सुकता-मय बातें करती शीघ्र ही आकाश-मार्ग से आ रही थीं। वे पहुँचते ही बड़े चाव से उन लोगों की बातें सुनने लगीं, और निश्चय करने लगीं कि राजा किसी अन्य के फंदे में तो नहीं फँस गए। यहाँ बातों की क्या कमी थी? पुष्पशय्या,

चंद्रप्रभा, चंदन, मणियाँ, सभी की निंदा हो रही थी; क्योंकि कामावस्था में ये चीज़ें और भी दाह उत्पन्न करती हैं।

उर्वशी को इतना अधैर्य था कि तिरस्करिणी से अदृश्य होकर राजा के सामने खड़ी हुई, और जब उन्हें उदासीन देखा, तो बड़ा विस्मय किया। परंतु यह चूक भी लाभदायक हुई, क्योंकि उसी समय रानी के आने की आहट सुनाई दी। अप्सराएँ अदृश्य रूप से अलग खड़ी रहीं, और रानी, श्वेत वस्त्र तथा थोड़े-से भूषण पहने, दूर्वा आदि पवित्र वस्तुएँ लिए सामने आ गई। राजा ने आदर से हाथ पकड़कर उन्हें बिठा लिया और प्रेम-भाव दिखलाने के लिये बहुत-सी मीठी बातें बनाई। यह आदर देखकर उर्वशी का हृदय सपत्नीभाव से काँपने लगा; पर चित्ररेखा ने समझा दिया कि चतुर कामी ऐसा ही करते हैं।

रानी ने चंद्रकिरणों की सविधान पूजा की, विदूषक तथा कंचुकी को मोदकों का बायन देकर राजा का अर्चन किया, और कहा—"भगवती रोहिणी और भगवान् चंद्रमा को साक्षी बनाकर मैं आपको प्रसन्न करती और कहती हूँ कि आपके हृदय में जिस स्त्री की कामना हो, उसे बिना रोक-टोक सुख से अपनी संगिनी बनाइए।"

इस बात पर राजा ने अपना दास-भाव प्रकट किया। विदूषक ने हास्य किया कि शिकार छूट जाने पर बधिक कहता है कि जाने दो, धर्म होगा। अप्सराओं ने प्रशंसा का भाव प्रकट किया।

रानी घर लौट गईं, और राजा ने फिर वही पुरानी कथा उठाई—

सो अप्सरा प्रवीन इहाँ लगि केहि विधि आवै ;
नूपुर-शब्द-पियूष तृषित काननहिं पियावै।
राजमहल महँ मंद-मंद गति आय सु झाँकै ;
कर-कमलन सों मम लोचन पीछे रहि ढाँकै।

वाह, क्या अच्छा अवसर मिल गया! उर्वशी ने चट पीछे जाकर राजा की आँखें हाथों से ढक लीं, जिस पर उन्हें सात्त्विक रोमांच हो आया। उन्होंने उर्वशी को दोनों हाथों से पकड़कर अपने सामने किया, और थोड़ी-सी प्रणय-वार्ता के अनंतर अपने आसन पर बिठा लिया। अब चित्ररेखा का कोई काम न था, इसलिये उसने सूर्योपस्थान के बहाने जाने की आज्ञा माँगी, और उर्वशी को गले लगाकर तथा राजा को प्रणाम करके इंद्रलोक का रास्ता लिया।

राजा का मनोरथ पूर्ण हुआ। जो सुख चक्रवर्तित्व में था, उससे अधिक उर्वशी के पाने में हुआ। चंद्रकिरण, चंदन, मलयवात आदि फिर सुखदायक होने लगे।

विरहावस्था के पश्चात् कामियों का समागम अधिक रमणीय होता है। अब उर्वशी और पुरूरवा के प्रेम-भाव की कोई सीमा नहीं थी। कुछ दिन प्रतिष्ठानपुर में रहकर और राज-काज का भार अमात्यों पर रखकर राजा तथा उर्वशी कैलाश-शिखर के समीप गंधमादन-वन को चले गए। वहाँ

चिरकाल नानाविध क्रीड़ाएँ और काम-कलाएँ निर्विघ्न होती रहीं। परंतु समय में परिवर्तन अवश्य होता है, और किसी के सब दिन बराबर नहीं जाते। इस आनंदमय अवस्था में भी बाधा पड़ी।

मंदाकिनी के किनारे उदयवती नाम किसी विद्याधर की कन्या सिकता-पर्वतों पर क्रीड़ा करती थी। राजर्षि पुरूरवा की उससे चार आँखें हो गईं, और वह कुछ समय तक टक-टकी बाँधकर उसे देखते रहे। इस बात पर उर्वशी को कोप हो आया; क्योंकि इस पर राजा का प्रेम परा सीमा तक पहुँच गया था, जिससे इतना तुच्छ सपत्नीभाव भी इसकी आँखों में काँटा-सा चुभता था। राजा ने बहुत विनय से क्षमा माँगी; पर भवितव्यता तो और थी, क्षमा कैसे मिलती? उर्वशी का हृदय गुरु-शाप से सम्मूढ़ हो गया था, इसलिये उसे कुछ चेत न रहा, वह कुमार-वन में प्रविष्ट हुई, और प्रविष्ट होते ही लता में परिवर्तित हो गई।

यह कुमार स्वामिकार्त्तिकेय का वन था। निर्विघ्न ब्रह्मचर्य निबाहने के लिये उन्होंने शाप दे दिया था कि जो स्त्री इस वन में आवेगी, लता हो जायगी। इस दुःख से छूटने का केवल यही उपाय था कि गौरीजी के चरण-राग से उत्पन्न संगम-मणि का प्रयोग किया जाय।

उर्वशी के वियोग से राजा पुरूरवा को बड़ा दुःख हुआ। इधर-उधर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह उन्मत्त हो गए, और वनों, पर्वतों,

नदियों आदि में घूमते-घूमते स्थावर-जंगम सबसे उर्वशी का पता पूछने लगे। उन्हें ऐसा चित्त-भ्रम हो गया कि अपनी भावना के अनुसार अन्य-का-अन्य मानने लगे। बेचारे पशु, पक्षी, लता, वृक्ष आदि इनके प्रश्नों का क्या उत्तर दे सकते थे? वे अपने स्वाभाविक कामों में लगे थे, और इस बात की परवा भी न करते थे कि कौन खड़ा है। परंतु राजा को विश्वास था कि इस दीन-हीन दशा में वे उनका अपमान करते हैं।

उस उन्मत्त दशा में राजा को सिवा उर्वशी के और कुछ न सूझता था। यहाँ तक कि सब वस्तुओं में उसी के अंगों आदि की समानता दिखलाई देती थी। कोई वस्तु ऐसी नहीं दृष्टिगोचर होती थी, जिसका कुछ-न-कुछ, बुरा या भला, लगाव उर्वशी से न प्रतीत हो। नवीन बादल को राजा मानते थे कि कोई भीषण राक्षस है, जो इंद्रधनुष-रूप धनुष लेकर विद्युत्-रूपिणी उर्वशी को भगाए लिए जाता है। बीरबहूटियों से अरुण नवीन घास को दूर से देखकर उर्वशी के कपड़े की भ्रांति होती थी। मयूरों के नाचने का कारण राजा को यही प्रतीत होता था कि उर्वशी के न रहने से अब उन्हें अपने बर्ह (पंखों) का गर्व हो गया है। कोकिलाओं ने उर्वशी का पता न बतलाया, यह अपराध केवल इस कारण क्षमा किया गया कि उनका स्वर उर्वशी के स्वर के समान था। हंसों का शब्द सुनकर विचार हुआ कि उर्वशी के नूपुरों का शब्द है।

बहुत विनय पर भी जब उन्होंने पता न दिया, तो उर्वशी की चाल चुरा लेने का दोष उन पर लगाया गया। चक्रवाकों के 'कः-कः' शब्द से प्रश्न-भाव भासित होने लगा, जिससे राजा को अपनी वंशावली बतानी पड़ी ; सहायता न करने पर पक्षी अनुपकारी और कठोरहृदय कहे गए। भ्रमरों से इसलिये आग्रह नहीं किया कि यदि वे उर्वशी को देखते, तो उसके मुखकमल को छोड़कर और फूलों पर न बैठते। बहुत बातों में अपने समान होने पर भी नागराज का प्रिया-वियोग नहीं था, इसलिये उसके भाग्य की सराहना की गई। अपने ही प्रश्न की प्रतिध्वनि कंदरा से उत्तर-रूप से निकलती थी, इससे भी राजा को धोका हुआ। वर्षा की उद्धत नदी भी उन्हें कोपवती उर्वशी प्रतीत होती थी। कृष्णसार मृग में उर्वशी के नेत्रसादृश्य से अधिक प्रीति थी। रक्त कदंब को देखकर उर्वशी का उत्कट स्मरण होता था। उसी स्थान पर अत्यंत दीप्त, लाल वर्ण, अग्नि के समान एक मणि दिखाई दी। राजा ने पहले तो ले लिया, पर यह सोचकर कि विना उर्वशी के इसे कौन पहनेगा, फिर छोड़ दिया। इस पर ऊपर से आकाशवाणी हुई कि हे वत्स, यह संगमनीय मणि है, इसे ले लो। इसी के प्रभाव से उर्वशी तुम्हें मिलेगी।

बहुत हर्ष और आशा के साथ राजा ने मणि ले ली, और आगे बढ़कर एक लता देखी, जिसकी समता उन्हें उर्वशी से प्रतीत होती थी। उस लता पर राजा का प्रेम इतना बढ़ा

कि उन्होंने उसका आलिंगन किया, तत्क्षण ही वह लता उर्वशी हो गई। राजा के दुःख-दग्ध हृदय को पहले विश्वास नहीं होता था कि यह यथार्थ उनकी प्रिया ही है। उर्वशी ने राजा से क्षमा माँगी, और अपना वृत्तांत सुनाया।

एक बार फिर इस दुःख का अंत हुआ। राजा ने वह मणि उर्वशी के ललाट में पहना दी, और उसकी शोभा से प्रेम-गद्गद हो गए। उर्वशी अपने दिव्य बल से राजा को विमान-रूप मेघ पर चढ़ाकर प्रतिष्ठानपुर ले आई।

राजा के लौटने पर नगर में बड़ा हर्ष मनाया गया, और प्रजागण को अत्यंत आनंद हुआ। इस समय सिवा संतान के राजा की सब सुखसामग्री पूर्ण थी। एक दिन वह गंगा-यमुना के संगम में सस्त्रीक स्नान करके अंगरागादि लगा रहे थे कि बाहर से चिल्लाने का शब्द सुनाई दिया। कोई भृत्य ताड़ के पंखे पर विख्यात संगमनीय मणि रक्खे हुए जा रहा था कि एक गिद्ध ने उसे मांसखंड जानकर पंजा मारा। ज्यों-ज्यों वह आकाश में मंडल काट-काटकर उड़ता था, त्यों-त्यों अंगार की भाँति वह मणि झलकती थी। शीघ्रता में कुछ करते-धरते नहीं बनता ; जब तक धनुष-बाण मँगाया गया, तब तक गिद्ध बाण की पहुँच से दूर हो गया। राजा ने आज्ञा दे दी कि संध्या समय नगरवासी लोग वृक्षों पर इस दुष्ट गिद्ध को ढूँढ़ें।

इस दुर्घटना पर राजा को शोक था; क्योंकि इसी मणि के

द्वारा लता-रूप उर्वशी से पुनः समागम हुआ था। अभी मणि-संबंधिनी वार्ता समाप्त नहीं हुई थी कि कंचुकी ने एक बाण-समेत मणि लाकर राजा के सामने रख दी। बाण में लिखा था—

"पुरूरवा—उर्वसी-सुत, 'आयुष' नाम कुमार ;
तेहि धन्वी को बान यह, मारहिं सत्रु अपार।"

इसे बाँचकर राजा को जितना हर्ष हुआ, उससे अधिक विस्मय; क्योंकि वह किसी समय भी उर्वशी से अलग नहीं रहते थे : पुत्रोत्पत्ति कब हुई? विदूषक ने इसका कारण उर्वशी का दिव्य प्रभाव बतलाया। इसी समय च्यवन ऋषि के आश्रम से एक तापसी कुमार को साथ लेकर आई। पुत्र के देखते ही राजा के प्रेम-अश्रु निकल पड़े, और गद्गद स्वर हो गया। कुमार के हृदय में भी स्नेह समाता नहीं था। यथोचित प्रणामाशिष हो जाने पर तापसी ने कहा—यह बालक उर्वशी का पुत्र है। किसी विशेष कारणवश उत्पत्ति-समय ही से इसकी माता ने इसे मुझे सौंप दिया। इसके सब क्षत्रिय-विहित संस्कार च्यवन ऋषि ने किए हैं; यह सब विद्याओं और धनुःशास्त्र में निपुण है। परंतु आज इसने आश्रम-नियम के प्रतिकूल यह कर्म किया कि वृक्ष पर बैठे हुए गिद्ध को बाण मारा। इस पर च्यवनजी ने मुझे आज्ञा दी है कि इसे ले जाकर उर्वशी को सौंप दो। आप कृपा करके उर्वशी को बुलवाइए।

उर्वशी ने दूर ही से देखा कि महाराज किसी बालक का लाड़-प्यार कर रहे हैं। तापसी को देखकर उसे निश्चित हो गया कि वह बालक उसी का पुत्र है। निकट पहुँचने पर कुमार ने अपनी माता का अभिवादन किया, और उर्वशी ने तापसी को प्रणाम। तापसी ने राजा को साक्षी बनाकर उर्वशी को पुत्र-रूप धरोहर लौटा दी।

महाराज पुरूरवा इस समय अपने को इंद्र से भी अधिक सुखी समझते थे। परंतु दूसरा दुःख पहले ही से तैयार था। भरत मुनि के शाप देने पर इंद्र ने उर्वशी से कहा था कि जब तक तेरी संतान का मुख राजा न देखें, तब तक पृथ्वी-लोक में रहना। वह अवधि अब पूरी हो गई। इंद्र की आज्ञा सदा माननीय थी। उर्वशी पृथ्वी-लोक में कैसे रहे? यह वियोग भी असह्य था : बिना उर्वशी के राजा को राजपद भोगना स्वीकार नहीं था, इसलिये उन्होंने विचार किया कि कुमार आयुष का राज्य-तिलक करके आप भी वन को चले जायँ।

कुमार को अपनी स्वल्पावस्था के कारण राज्य-भार उठाना अंगीकार नहीं था। पर राजा ने यों समझाया—

गंध-गज, देखहु, किसोरहु, अन्य गजन भगावही ;
ब्याल-बालक हू को बिष प्रति रोम फैलत है सही।
नृपति अल्पहु बयस में अनुभाव से रच्छै मही ;
जाति ही सों तेज ब्यापत, बयस की गनना नहीं।

राज्याभिषेक की तैयारी हो ही रही थी कि आकाश में अति जाज्वल्यमान सुवर्ण की भाँति नारदजी दिखाई दिए। अर्घ्य, पाद्य, नमस्कारादि पूजा के उपरांत देवर्षि नारद ने इंद्र का यह संदेश सुनाया—"त्रिकालदर्शियों के वचनानुसार देवता-दैत्यों में भारी युद्ध होगा। आप देवतों के सहायक हैं। इसलिये अस्त्र-शस्त्र त्यागकर आपका वन-गमन योग्य नहीं। आप यावज्जीवन उर्वशी को अपने साथ रक्खें।"

सब सभा ने इंद्र के इस अनुग्रह पर अपने को कृतार्थ माना। नारद ने रंभा को बुलाकर दिव्य जल से कुमार का यौवराज्याभिषेक कर दिया। वैतालिकों ने युवराज की स्तुति पढ़ी। इस समय चारों ओर आनंद की वृष्टि-सी हो रही थी। सबके मनोरथ सिद्ध थे। नारद की आज्ञा से महाराज पुरू-रवा ने लोक के कल्याणार्थ इंद्र से और भी वर माँग लिया—

श्री लक्ष्मी वागीस्वरी, छाँड़ि समग्र बिरोध;
प्रेमसहित निवसहिं सदा, सज्जन मन करि बोध।
सबके दुःख बिनष्ट हों, सब कहँ मंगल हर्ष;
इष्टसिद्धि सबकी बने, नित नव आनंद वर्ष।

मालविकाग्निमित्र

विदिशा-नगरी में राजा अग्निमित्र राज्य करते थे। यह प्रतापी राजा थे, और आसपास के बहुत-से छोटे-छोटे राजा इनकी आज्ञा पालते थे। इनके दो रानियाँ थीं, एक धारिणी, दूसरी इरावती। धारिणी के वसुमित्र-नामक एक पुत्र था, और वसुलक्ष्मी नाम एक कन्या भी थी। राजा के पिता पुष्पमित्र भी जीवित थे, और प्रधान सेनापति का काम करते थे। पुराने समय में जब पुत्र गृहस्थाश्रम अथवा राज्य का भार उठाने के योग्य हो जाता था, तो पिता सब संपत्ति उसे सौंपकर स्वयं धर्मक्रियाओं में लग जाता था। परंतु पुष्पमित्र बड़े वीर थे, इसलिये अग्निमित्र को राजसिंहासन दे देने पर भी सेनापति का काम करते थे।

विदिशा और विदर्भ के राजों में बहुधा कुछ अनबन रहा करती थी; अतः अग्निमित्र ने विदर्भराज के मंत्री और साले को पकड़कर अपने यहाँ क़ैद कर लिया था। विदर्भराज भी सोचता था कि घात मिले, तो बदला चुकाऊँ। उसने

देखा, कुमार माधवसेन राजा अग्निमित्र के पक्षपाती हैं, इस-लिये जब वे विदिशा को आ रहे थे, तो उन्हें पकड़वाकर बँधुआ कर लिया। कुमार की इस विपत्ति में मंत्री सुमति ने साथ दिया, अर्थात् उनकी बहन मालविका को विदर्भराज के पंजे से बचाना चाहा। कुमार माधवसेन की इच्छा थी कि मालविका का संबंध राजा अग्निमित्र से किया जाय, इस-लिये मंत्री सुमति ने उसे विदिशा भेजना चाहा। परंतु यह काम सुगम नहीं था ; क्योंकि मार्ग में डाकू लगते थे। उसी समय कुछ व्यापारी विदिशा की ओर जा रहे थे। इनके साथ ही सुमति भी मालविका और अपनी विधवा बहन कौशिकी तथा कुछ सिपाहियों को साथ लेकर चले। यह काम गुप्त रूप से किया गया; क्योंकि यदि विदर्भराज को ज्ञात हो जाता, तो वह न-जाने कैसा उपद्रव करता।

व्यापारियों का साथ और भी भयानक हो गया। धन-लुब्ध डाकुओं ने छापा मारा, और लूट लिया। सिपाही अपने प्राण बचाकर भागे: परंतु वीर सुमति अपना जीवन वहीं अर्पण करके स्वामी के ऋण से मुक्त हो गया। अशरण मालविका डाकुओं के हाथ पड़ गई।

उसी प्रदेश में अग्निमित्र के साले, अर्थात् रानी धारिणी के भाई, वीरसेन भी रहते थे। यह अपने बहनोई की ओर से अंतपालगढ़ की सेना के सेनापति थे। इन्होंने डाकुओं का सामना किया, और उन्हें भगाकर, मालविका को उनके हाथ

से छीनकर, अपनी बहन धारिणी की सेवा के लिये विदिशा भेज दिया।

वीर सुमति के मारे जाने पर उनकी बहन कौशिकी मारे शोक के बेसुध हो गई। चेतना होने पर देखा, तो सब शून्य था: न डाकू थे, न मालविका और न कोई सहायक। दुःख-सागर में डूबती हुई कौशिकी किसी प्रकार उठी, और अपने भाई के मृत शरीर को जलाकर विदिशा की ओर चली। उसने सोचा, अपरिचित लोगों को यथार्थ वृत्तांत बताना ठीक नहीं। इसलिये गेरुआ वस्त्र पहन योगिनी का वेष धारण किया। रानी धारिणी के यहाँ योगिनी का प्रवेश हो गया। मालविका पहले ही वहाँ पहुँच गई थी।

मालविका के लड़कपन में एक सिद्ध ने कहा था कि यह कन्या एक वर्ष चेरी रहेगी, तब इसे अपने योग्य वर मिलेगा। योगिनी ने देखा, इसका कर्मयोग इस प्रकार रानी धारिणी की सेवा में कट जायगा; अतः उसके राजकुमारी होने का वृत्तांत गुप्त रक्खा। स्वयं योगिनी ने ऐसी योग्यता दिखाई कि थोड़े ही काल में रानी और राजा का अत्यंत आदर उस पर हो गया।

अब मालविका रानी धारिणी की सेवा करने लगी, और उन्हें इतना प्रसन्न कर दिया कि वह इसे अपने ही पास रखती थीं। परंतु स्त्रियों का हृदय नित्य ही शंकायुक्त रहता है, और सौतिया डाह बड़ा कठिन होता है। रानी सदा यही

सोचती थीं कि कहीं राजा की दृष्टि इस अलौकिक शोभा-युक्त मालविका पर न पड़ जाय। अतः पूरा प्रबंध किया गया कि वह राजा के दृष्टिगोचर न हो। परंतु भवितव्यता को कौन रोकनेवाला है? एक समय एक चित्रकार ने रानी का चेरियों-समेत चित्र खींचा, जिसमें मालविका भी थी। जिस समय रानी इस चित्र को ध्यान-पूर्वक देख रही थीं, राजा अग्निमित्र आ गए। मालविका के चित्र पर दृष्टि पड़ते ही राजा को बड़ा अचंभा हुआ कि ऐसी असाधारण रूपवती स्त्री चेरियों के बीच क्योंकर आ गई! उन्होंने बहुत कुछ पूछा भी, पर रानी के भय से किसी ने उत्तर न दिया। तब रानी की छोटी लड़की वसुलक्ष्मी ने निष्कपट बाल-भाव से मालविका का नाम बतला दिया।

अब राजा के हृदय में तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हुई कि जिसका चित्र ऐसा मनोहर है, उसे साक्षात् दृष्टिगोचर करना चाहिए। परंतु रानी धारिणी इस उत्कंठा में बाधा-रूप थीं। जो-जो उपाय एक ओर से सोचे जाते थे, वे दूसरी ओर से खंडित हो जाते थे। रानी ने भी विचारा कि ये चालें कहाँ तक सफल होंगी; किसी-न-किसी समय अंतःपुर में आकर राजा अवश्य ही उस चेरी को देख लेंगे, इसलिये उन्होंने गणदास-नामक नाट्याचार्य को बुलाकर मालविका को नृत्य, गान, नाटक सिखाने के लिये उनके साथ कर दिया। जो कुछ हो, नृत्यशाला में राजा का प्रवेश विना सूचना दिए नहीं हो सकता था।

रानी की सब चालें राजा, योगिनी और चेरियों आदि को विदित थीं; परंतु प्रकट-रूप से उसका कोई उपाय नहीं हो सकता था। राजा धीर-ललित नायक थे, अर्थात् अपनी रानियों पर दिखाऊ प्रेम रखकर, अपने मन की सच्ची बात उनसे छिपाकर, अन्य स्त्री में प्रीति रखते थे। यह कभी नहीं चाहते थे कि रानियाँ अप्रसन्न रहें। परंतु अपना मनोरथ पूरा करना भी आवश्यक था। अतः उन्होंने गौतम-नामक विदूषक को कूट-प्रबंध सौंपा। विदूषक को भी ऐसी बातों में बड़ी रुचि थी। उसने जाकर योगिनी को साधा, और गणदास तथा एक अन्य नाट्याचार्य हरदत्त को बहकाकर एक दूसरे से विरुद्ध कर दिया। इस जोड़-तोड़ में ऐसी सफलता हुई कि प्रधान सभ्यों के सामने दोनों आचार्यों की कड़ी बातचीत हो गई। एक ने कहा, तुम मेरे पाँव की धूल के बराबर नहीं। दूसरे ने कहा, तुममें और हममें गड़ही और समुद्र का-सा अंतर है।

इस झगड़े के तोड़ के लिये यह निश्चय किया गया कि महाराज अग्निमित्र शास्त्र और प्रयोग में दोनों की परीक्षा ले लें। निदान वे दोनों आचार्य राजा के पास आए, और अपनी-अपनी योग्यता कह सुनाई। राजा ने कहा, स्वयं विचार करने से रानी पक्षपात समझेंगी, इसलिये यह परीक्षा उनके तथा योगिनी के समक्ष की जाय। इस पर वह भी बुलाई गईं, और राजा ने प्रश्न करने का भार योगिनी पर रख दिया।

चतुर योगिनी को विदूषक ने पहले ही साध रक्खा था। उन्होंने कहा कि ये दोनों नाट्य-विद्या के आचार्य हैं। और, नाट्य में प्रयोग ही मुख्य होता है। इसलिये ये लोग अपनी-अपनी चेलियों के प्रयोग दिखलावें ; क्योंकि—

गुरु सों विद्या सीखि कै, पेट पचायो ज्ञान ;
औरहिं शिक्षा नहिं दई, ते न भले बिद्वान।
जे पुनि ज्ञान-प्रयोग सब, औरहिं सकैं सिखाय ;
तिनकी बिद्या सफल है, कछु संका नहिं लाय।

यह बात रानी को अच्छी न लगी। वह ताड़ गईं कि कुछ दाल में काला है, और योगिनी राजा से मिल गई है। उन्होंने झगड़े को टालना चाहा ; पर विदूषक ने उनकी बात हास्य में डाल दी। बेचारी रानी का एक भी उपाय न चला, और निश्चय कर दिया गया कि पहले गणदास अपनी चेली को तैयार करके अभिनय दिखलावें।

गणदास को इसकी पड़ी थी कि शीघ्र ही अपनी योग्यता दिखावें। उसने चट आकर सब सामग्री ठीक की। अल्प काल ही में मृदंग की ध्वनि कर्णगोचर होने लगी, और प्रयोग देखने के लिये राजा, रानी, योगिनी, विदूषक, सब गए। रानी ने छिपी रीति से राजा का उपालंभ भी किया।

मालविका के आते-आते राजा का पल-पल कठिनता से कटता था। उसके आने पर राजा स्तंभित-से हो गए, और उसकी रूप-संपत्ति को देखकर मन-ही-मन उसे सराहने

लगे। उसने चतुष्पदी गीत में शब्दों और भाव के द्वारा अपने मन का आशय खोल दिया। जाने के समय विदूषक ने टोक-कर उसे कुछ देर के लिये और रोका। इस विलंब से राजा तो फूले नहीं समाते थे, परंतु रानी का चेहरा सूखता जाता था। अब प्रयोग समाप्त हो गया, और मालविका गणदास के साथ बाहर चली गई।

अब हरदत्त की बारी आई। उसने भी प्रयोग दिखाने की आज्ञा माँगी; पर राजा का मनोरथ तो पूर्ण हो गया था, हर-दत्त के प्रयोग में कुछ भी रुचि नहीं थी, इसीलिये यह काम दूसरे दिन पर टाल दिया गया। दोपहर का समय भी आ गया, और बैतालिकों की पुकार सुनकर राजा व विदूषक एक ओर गए। स्त्रियाँ अंतःपुर को गईं।

वसंत-ऋतु का आगमन हो गया था, और उपवन की विचित्र शोभा हो गई थी। केवल लाल अशोक नहीं फूला था। पूर्व समय में यह विश्वास किया जाता था कि यदि कोई सुंदरी स्त्री वस्त्र-आभूषणों से सज-धजकर अशोक को बाएँ पाँव से मारे, तो उसमें बहुत शीघ्र पुष्पोद्गम होता है। इस काम के लिये मालियों ने रानी धारिणी से विनय की; परंतु इसी बीच में वह झूले पर से गिरकर पैर में चोट खा गई थीं, इसीलिये असमर्थ होकर उन्होंने मालविका को आज्ञा दी कि तुम हमारे बदले यह काम करो। और, यदि अशोक शीघ्र फूलेगा, तो जो कुछ माँगोगी, वही पारितोषिक दूँगी।

रानी की आज्ञा से बकुलावलिका चेरी के साथ मालविका उपवन को गई। परंतु ऐसा आदर पाने पर भी उसका चित्त प्रसन्न नहीं था। उसने जब से नाट्यशाला में राजा को देखा था, तब से काम-पीड़ित होकर कहीं चैन नहीं पाती थी। पर अपना दासी-भाव जानकर और रानी की ओर से कड़ा प्रतिबंध समझकर उसका साहस भी नहीं पड़ता था कि राजा के लिये अपना प्रेम प्रकाशित करे। वह यहाँ तक प्रेम-विवश थी कि राजा के वियोग में प्राण दे देना अच्छा समझती थी।

बकुलावलिका ने मालविका के पैरों में महावर लगाकर और उसे कपड़े व गहने पहनाकर पाद-प्रहार के लिये तैयार किया। बड़े चाव से सब रीति समाप्त हुई, और मालविका ने उत्कट इच्छा प्रकट की कि अशोक शीघ्र ही फूले, जिससे रानी प्रसन्न होकर मुँहमाँगा पारितोषिक दें।

मालविका का यह सब काम अरण्यरोदनवत् निष्फल नहीं था; किंतु उसके प्राणपति राजा अग्निमित्र आड़ से सब लीला देख रहे थे, और उसकी निराशामय बातें सुन रहे थे। उसकी एक-एक बात राजा के मन में चुभी जाती थी, और वह विदूषक से सलाह करते थे कि किस प्रकार कोई अवकाश मिले, और वह प्रकट होकर अपना मनोरथ पूरा करें।

राजा को मालविका के वहाँ जाने का हाल पहले से ज्ञात नहीं था। वह दूसरे प्रयोजन से वहाँ गए थे; क्योंकि छोटी रानी इरावती ने संदेश भेजा था कि आज हम आपके साथ

उपवन में हिंडोला झूलेंगी। राजा की श्रद्धा इरावती में नहीं थी; पर तब भी लोक-लज्जा से उनको वहाँ जाना ही आवश्यक प्रतीत हुआ। जाने का फल भी मिल गया, और कुछ देर के लिये आँखें सुखी हो गईं।

प्रेम-विषय में विघ्न भी शतशः और सहस्रशः होते हैं। इधर राजा समझते थे कि अब कोई बाधा नहीं; परंतु उधर रानी इरावती और चेटी निपुणिका भी आड़ में खड़ी मालविका की सब लीला देख रही थीं। पहले तो इरावती को शंका थी कि मालविका सज-धजकर वहाँ क्यों पहुँची; परंतु उन लोगों की बातें सुनकर उसे विश्वास हो गया कि सब काम रानी धारिणी की आज्ञा से हुआ है।

मदनिका और बकुलावलिका को उस समय यह चेत नहीं था कि कोई शत्रु पास खड़ा होगा, इसलिये वह विश्रब्ध होकर हास्य तथा प्रणय की बातें करती थीं। बातचीत में बकुलावलिका ने मदनिका पर प्रकट कर दिया कि जिस प्रकार वह राजा के वियोग में कातर थी, उससे भी अधिक राजा उसके विरह में विधुर थे। ये सब बातें इरावती के कान तक पहुँचती थीं; परंतु इस विषय में अधिक जानने के लिये वह अब भी चुपचाप खड़ी थीं।

दैववशात् वह अवसर भी मिल गया; क्योंकि राजा उस समय लता की ओट से प्रकट हो गए, और उनके साथी विदूषक ने बात छेड़ने के लिये पूछा कि इस स्त्री ने महाराज

के अशोक पर पाद-प्रहार क्यों किया। इस पर वे दोनों स्त्रियाँ डरीं, और राजा के पैरों पड़ने लगीं। राजा ने उन्हें क्षमा करके अपना मनोरथ पूर्ण करने के लिये विनय की।

चुराए हुए धन के साथ चोर पकड़ लिया गया। अब आगे किस प्रमाण की आवश्यकता थी? रानी इरावती कूद पड़ीं, और राजा तथा मालविका आदि को बुरा-भला कहने लगीं। इस समय सबकी बुद्धि बँध-सी गई। किसी प्रकार स्त्रियों ने क्षमा माँगकर अपनी राह ली। राजा ने बहाना किया कि मैं केवल अपना जी बहलाता था; क्योंकि रानी ने आने में देर की थी। ऐसे बहाने बेकाम थे, और क्षमा कराने के लिये राजा को रानी के पैरों पड़ना पड़ा। पर मानवती छोटी रानी का कोप असीम था। वह क्षमा न करके बाहर चली गईं।

रानी इरावती का चिढ़ जाना कोई असाधारण काम नहीं था। उन्होंने जाकर बड़ी रानी धारिणी से सब वृत्तांत बतला दिया, जिस पर धारिणी ने मालविका को बेड़ी पहनाकर तहख़ाने में बंद करा दिया, और माधविका को द्वार पर बिठाकर आज्ञा दे दी कि जब तक मेरी अँगूठी न दिखाई जाय, ये दोनों स्त्रियाँ बंधन से न छूटें।

यह वृत्तांत राजा ने विदूषक के द्वारा सुना, जिससे वह अत्यंत निराश हो गए। परंतु विदूषक ने एक उपाय सोचकर उनसे बतलाया। उन्होंने स्वीकार कर लिया। उपाय यह था कि द्वारपालिका जयसेना पहले से मिला ली जाय। राजा

रानी धारिणी का पैर देखने जायँ, पीछे से विदूषक भी चिल्लाता हुआ हाय-हाय करता पहुँचे, और अपनी उँगली केतकी के काँटों से छेदकर कहे कि मुझे साँप ने काट लिया है। इस पर राजा उसे जयसेना के साथ ध्रुवसिद्धि वैद्य के यहाँ भेजें। थोड़ी देर में लौटकर जयसेना कहे कि विष उतारने-वाला जलकुंभ बनाने के लिये वैद्यजी नागमुद्रा माँगते हैं। रानी धारिणी की अँगूठी में नागमुद्रा बनी है। वह जब जानेंगी कि विदूषक मेरे लिये पुष्प तोड़ने गया था, तभी सर्प ने उसे डसा है, तो अपने को अपयश से बचाने के लिये तत्क्षण ही अँगूठी दे देंगी। यह अँगूठी जयसेना के हाथ विदूषक के पास पहुँचे, और वह उसी चिह्न को दिखाकर दोनों स्त्रियों को बंधन से छुड़ावे। यदि पहरेवाली चेरी माधविका को कोई संदेह हो कि परम अविश्वास-पात्र विदूषक क्यों ऐसा काम करने के लिये आया, तो उसे उत्तर दिया जाय कि ज्योतिषी ने राजा के ग्रह अरिष्ट बतलाए हैं, और उसके परिहार में यह कहा है कि सब बँधुए छोड़ दिए जायँ। यह बात सुनकर रानी धारिणी ने महाराज के हित के लिये इन दोनों स्त्रियों को भी छोड़ देना चाहा है, इसीलिये चिह्न के अर्थ अँगूठी भेजी है।

यह उपाय अच्छा था, और इसी के अनुसार सब कार्यवाही की गई। राजा ने जाकर रानी धारिणी का पैर देखा, और बहुत कुछ सांत्वना दी। इतने में विदूषक भी त्राहि-त्राहि

करता, गिरता-पड़ता पहुँचा। विष चढ़ने के बहाने से कभी अपने अपराधों की क्षमा माँगता था; कभी अपनी वृद्धा माता के पालन का भार राजा पर रखता था; कभी अपने जीवन की निराशा प्रकट करता था। निदान अंगूठी पाकर उसने अपना कर्तव्य पूरा किया, और मालविका व बकुलावलिका को छुड़ाकर समुद्रगेह-नामक कुंज में बिठा दिया। जब उधर सब सिद्धि हो गई, तो पहले ही से साधी हुई जयसेना ने राजकाज देखने के लिये राजा को धारिणी के पास से अलग बुला लिया।

बाहर निकलकर राजा एक गुप्त मार्ग से जयसेना के साथ प्रमद-वन को गए। यहाँ विदूषक से भेंट हुई, जिसने उन्हें समुद्रगेह तक पहुँचा दिया। इसी समय रानी इरावती की एक चेटी चंद्रिका-फूल चुनने के लिये उधर ही आ रही थी, इसलिये उसके डर से इन लोगों ने कुछ विलंब किया, और बाहर ही झाँकते रहे। कुंज के भीतर बकुलावलिका मालविका को राजा का चित्र दिखा रही थी। दोनों सादर उस चित्र के पैरों पड़ती थीं। उसी चित्र में मालविका राजा की सस्नेह-दृष्टि इरावती पर देखकर कुछ निराश-सी हो गई, और रोष करके मुँह फेरने लगी। राजा व विदूषक अवसर पाकर भीतर घुस गए, और समयानुसार प्रणय-वार्ता करने लगे। थोड़ी देर में विदूषक व बकुलावलिका हरिण से अशोक-वृक्ष बचाने के मिस से बाहर निकल आए, और राजा व मालविका कुंज के भीतर रह गए।

बकुलावलिका बाहर लताओं की ओट में रही, और विदूषक उसी समुद्रगेह के द्वार पर पड़कर सो रहा। परंतु इन लोगों के सब कामों में बाधा डालने के लिये इरावती किसी-न-किसी प्रकार अवश्य पहुँच जाती थी। इस बार उसने सोचा कि पैरों पड़ने पर भी मैंने राजा को क्षमा नहीं किया, और कोप करने से कोई लाभ नहीं, इसलिये चलकर उन्हें मनाना चाहिए। मार्ग में उसे हाल मिला कि कुंज के द्वार पर विदूषक अकेला सोता है, इसलिये वह उसके पास पहुँची। विदूषक के मन में वही मालविका और राजा के प्रेम की बातें भरी थीं, इसलिये वह सोते समय भी स्वप्न में बकता था कि मालविका, तुम इरावती से भी बढ़ जाओ। इरावती को इन बातों से कोई आश्चर्य नहीं हुआ; क्योंकि राजा का प्रेम पहले ही खुल गया था।

इरावती की चेरी निपुणिका ने हास्य में विदूषक पर एक लकड़ी गिरा दी, जिससे वह जाग उठा, और पुकारने लगा—दौड़ो, मेरे ऊपर सर्प गिर पड़ा। आर्त-स्वर सुनकर भीतर से राजा दौड़े, और उनके पीछे मालविका भी आई। बकुलावलिका ने कुछ संकेत राजा को दिया कि रानी इरावती खड़ी हैं, इसलिये आप बाहर न आइए। परंतु वह पहले ही निकल चुके थे, और रानी ने उन्हें व मालविका को देख लिया था। रानी उस समय क्रोधांध हो रही थीं। राजा बड़े संकट में पड़े थे कि इन विघ्नकारिणी स्त्रियों को कैसे टालें। परंतु

भाग्यवश उसी समय जयसेना ने आकर संदेश दिया कि कुमारी वसुलक्ष्मी गेंद खेलते समय वानर देखकर डर गई हैं। इस अच्छे बहाने को पाकर राजा वहाँ से जान छुड़ाकर भागे।

रानी धारिणी ने सब वृत्तांत सुनकर निश्चय कर लिया कि राजा का यह रोग असाध्य है, और उनका चित्त मालविका से किसी प्रकार हट नहीं सकता। इसलिये उन्होंने सोचा कि इन दोनों का यथोचित विवाह कर दिया जाय। इसी बीच में वह अशोक-वृक्ष भी फूल गया था, जिस पर मालविका ने पाद-प्रहार किया था, और रानी को अपने वचनानुसार मालविका का मनोरथ पूर्ण करना था। उन्होंने राजा के पास संदेश भेजा कि हम मालविका आदि चेरियों को लेकर आप-के साथ अशोक-वृक्ष की शोभा देखेंगी। इस संदेश को पाकर राजा प्रसन्न हो गए, और समझ गए कि अब रानी धारिणी की कृपा से मनोरथ सिद्ध हो जायगा।

परिचय दिया जा चुका है कि राजा के पिता पुष्पमित्र सेनापति थे। उन्होंने यज्ञ करने के लिये घोड़ा छोड़ा था, और उसकी रक्षा के लिये अग्निमित्र के पुत्र कुमार वसुमित्र को भेजा था। सिंधु के दक्षिण किनारे यवन-सवारों ने घोड़ा पकड़ लिया, जिस पर बड़ा युद्ध हुआ, और कुमार ने यवनों को परास्त करके घोड़ा छीन लिया। जब यज्ञ का समय निकट हुआ, तो पुष्पमित्र ने कुमार की वीरता का हाल लिखकर

अग्निमित्र को यज्ञ में आने का निमंत्रण दिया। इस वृत्तांत से रानी धारिणी बहुत हर्षित हुईं, और सोचा कि इसी हर्ष के समय मालविका राजा को समर्पी जाय।

मालविका के भाई कुमार माधवसेन विदर्भराज के यहाँ बंधन में थे। राजा अग्निमित्र ने उनकी विपत्ति का हाल जानकर विदर्भराज को चिट्ठी लिखी थी कि आप मेरे कहने से माधवसेन को छोड़ दीजिए। विदर्भराज ने उत्तर में लिखा कि यदि आप हमारे साले को बंधन से मुक्त कर दें, तो बदले में हम भी माधवसेन को छोड़ दें। इस उत्तर पर अग्निमित्र को क्रोध आया। उन्होंने अपने साले वीरसेन को, जो अंतपालगढ़ में सेनापति थे, आज्ञा भेजी कि चढ़ाई करके विदर्भराज को परास्त करो, और माधवसेन को छुड़ा लो। आज्ञानुसार वीरसेन ने ऐसा ही किया, और राजा के पास हाल भेजा। अब मंत्रियों की अनुमति से राजा ने निश्चय किया कि विदर्भदेश का आधा राज्य हारे हुए यज्ञसेन को लौटा दिया जाय, और आधा माधवसेन को दिया जाय।

माधवसेन के छूटने पर उनके यहाँ की दो कलावती स्त्रियाँ गुप्त रीति से मालविका का पता लगाती हुई अग्निमित्र के दरबार में पहुँचीं। जिस समय राजा, रानी धारिणी, योगिनी, मालविका, चेरियाँ, विदूषक आदि सब प्रमद-वन में बैठे कुमार वसुमित्र की वीरता पर, पिता के यज्ञ पर और मित्र माधवसेन के छूटने पर हर्ष मना रहे थे, और प्रतीक्षा

कर रहे थे कि अल्प काल में महाराज अग्निमित्र का मनोरथ अपनी हृदयंगमा को पाकर पूर्ण होगा, उसी समय उन वैदर्भी स्त्रियों का प्रवेश भी हुआ। उन्होंने कहा कि हम गान-कला जानती हैं। इस पर राजा ने रानी धारिणी से पूछा कि आप कौन-सी स्त्री अपने लिये रक्खेंगी? रानी ने मालविका से पूछा। मालविका का नाम सुनते ही वे स्त्रियाँ चौकन्नी हो गईं, और अपनी राजकुमारी व कौशिकी (योगिनी) को पहचान गईं।

राजा ने पूरा हाल पूछा। उन कलावती स्त्रियों ने बतलाया, किस प्रकार माधवसेन बँधुआ हो गए थे, और उनकी बहन मालविका को मंत्री सुमति ने चोरी से कहीं बाहर भेज दिया था। डाकुओं की लूट, सुमति की मृत्यु, वीरसेन की सहायता, अपने योगिनी-रूप धरने का कारण, तथा मालविका का वृत्तांत छिपाए रखने आदि का सब कारण कौशिकी ने बतलाया।

मालविका को राजकुमारी जानकर सबको हर्ष हुआ, और रानी धारिणी ने उसे चेरीभाव से रखने पर बड़ा पश्चात्ताप किया। अब मालविका और अग्निमित्र के संयोग में किसी प्रकार की अयोग्यता न रह गई। रानी इरावती ने भी हर्ष-पूर्वक सम्मति दे दी।

सुख और दुःख, दोनों अकेले नहीं आते; वियोग के समय विघ्न पर विघ्न की बाधा होती थी, एक दुःख से छुट्टी मिलती

थी, तो दूसरा उससे भी बड़ा उपस्थित हो जाता था। अब चक्र का परिवर्तन हुआ, तो सुख की सीमा नहीं थी। पुत्र की विजय, पिता का यज्ञ, मित्र का बंधन-मोक्ष, शत्रु का पराजय, रानियों की अनुकूलता और राजकुमारी से संबंध, सभी एक दूसरे से बढ़-चढ़कर थे।

रानी धारिणी ने मालविका को विवाह-योग्य वस्त्र-आभूषण पहनाकर, और हाथ पकड़कर राजा अग्निमित्र को अर्पण कर दिया। राजा ने लज्जा-पूर्वक उसे ग्रहण कर लिया। इस समय से मालविका को महारानी-पद प्राप्त हुआ, और योगिनी कौशिकी आदि ने रानी धारिणी की उदारता की प्रशंसा की—

पुन्य-रूप गंगा जथा, अन्य नदी लै संग;
पहुँचावत बारिधि निकट, ताहि मानि निज अंग।
तैसेहि रानी धारिनी, छोड़ि सपत्नी भाव;
मालविका सौंपी नृपहिं, पतिव्रत यही प्रभाव।

इतना ही नहीं, किंतु और उपकार करने के लिये भी रानी धारिणी ने राजा से पूछा, जिसका उत्तर यह था—

सत्रु जीति मेट्यो कलह, लह्यो मनोरथ मूल;
अब चाहहुँ रानी सुमुखि, सदा भाव अनुकूल।
मंगलमय, कल्यानमय, दिन-दिन प्रजा-समाज;
सकल मनोरथ पावहीं, अग्निमित्र के राज।

महावीर-चरित

विश्वामित्र ऋषि को सभी जानते हैं। यह कुशिक-वंश में राजा गाधि के पुत्र थे। बहुत दिनों तक अखंड राज्य करके इन्होंने देखा कि ब्रह्मतेज में क्षत्रिय-तेज से अधिक शक्ति है, इसलिये इनकी अनिवार्य इच्छा हुई कि क्षत्रिय से ब्राह्मण बनना चाहिए। इसका एक-मात्र उपाय तपस्या थी, और इन्होंने अपनी तपस्या से त्रिलोकी को आशंकित कर दिया। बड़े-बड़े विघ्न होने पर भी इन्होंने हठ न छोड़ा, और अंत में ब्रह्मर्षि-पदवी प्राप्त ही कर ली। चांडाल-रूप त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग पहुँचाना, माता-पिता से त्यक्त शुनःशेप का प्राण-परित्राण, तपोभंगार्थ आई हुई रंभा का स्तंभन आदि विचित्र कार्य भी महामुनि ने कर दिखाए थे। इनके गुरु ने सेवा से प्रसन्न होकर इन्हें दिव्य अस्त्र दिए थे, जो नित्य ही अंतरिक्ष में तेजोरूप रहते थे, और स्मरण करने पर उपस्थित होते थे। मंत्रों के द्वारा इन अस्त्रों का प्रयोग कभी निष्फल नहीं होता था।

कौशिकी-नदी के तट पर सिद्धाश्रमपद नाम की कुटी में इनका निवास था। वहीं पर यज्ञ-हवनादि पुण्यक्रियाएँ होती

थीं। परंतु राक्षसगण आकर बड़ा उत्पात मचाते और विघ्न डालते थे। उस समय राक्षसों का ऐसा बल था कि लंका से लेकर इनके स्थान तक, कदाचित् और भी आगे तक, ऋषि-मुनि स्वतंत्रता से पुण्य-कर्म नहीं करने पाते थे। यद्यपि विश्वामित्र समर्थ थे कि इन दुष्टों का दमन करें, तथापि यज्ञ से उठकर युद्ध करना योग्य नहीं था। सुतरां इन्हें विश्वास था कि अयोध्यापुरी के महाराज दशरथ के पुत्र राम प्राकृत मनुष्य नहीं हैं और उन्हीं के द्वारा सर्वराक्षसों का संहार विहित है।

इन्हें औचित्य का भी पूर्ण विचार था। योग्य का योग्य ही से समागम उचित था। तेज, बल, विद्या, शील आदि जो गुण इन्हें राम में दिखलाई देते थे, उन्हीं के अनुकूल गुण सीता में भी थे। यह सीता मिथिला-देश के राजा सीरध्वज जनक की कन्या थीं। अनावृष्टि-निवारणार्थ राजा ने यज्ञ के अंत में सुवर्ण के हल से पृथ्वी जोती, तभी सीताजी निकलीं। विश्वामित्र की इच्छा थी कि राम और सीता का विवाह हो जाय। इसीलिये उन्होंने राजा दशरथ से राम और लक्ष्मण को मँगनी माँगा, और उन्हें अपने आश्रम पर ले जाकर यज्ञ-रक्षार्थ रक्खा।

मिथिलेश जनकजी भी उस समय यज्ञ में लगे थे। इस-लिये विश्वामित्र ने उनके भाई राजा कुशध्वज को बुलाया। इनके साथ सीता और उर्मिला (जनक की औरस कन्या) भी आईं। मार्ग में ऋषि-प्रभाव पर अनेक बातें हुईं। विश्वा-

मित्र ने कुशध्वज का स्वागत किया, और राम-लक्ष्मण का सब वृत्तांत बताया। राजकुमारों को भी जनक आदि का पूरा परिचय दिया।

राजकुमारों की अनुपम एवं अलौकिक शोभा से कुशध्वज ठग-से गए—

चोटी हैं चूमत बान के पुंख, दोऊ दिसि पीठ कसे हैं तुनीरा ;
ओढ़े हैं खाल रुरू-मृग की, अति पावन भस्म लगाए सरीरा।
मूँज की डोर कसे कटि में, तन बाँधे मँजीठ के रंग को चीरा ;
अच्छ की माल कलाई पै हाथ में, पीपल-दंड गहे धनुबीरा।

और परिचय पाने पर उन्हें हृदय से लगा लिया। कन्याओं के चित्त भी आकर्षित हो गए।

राम ने अपने तेज से गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या को अपने पति के शाप-रूप महापातक से उद्धार किया था, इस-लिये उसने "जय-जय जगत्पते रामचंद्र" आदि की ध्वनि की। इसे सुन और अहल्या का हाल जानकर सीता के मन में बड़ा प्रभाव पड़ा। और, कुशध्वज ने मानस संकल्प कर लिया कि यदि जनक शिव-धनुष उठाने का झगड़ा न लगावें, तो सीता का विवाह राम से कर दिया जाय।

इसी बीच रावण का पुरोहित सर्वमाय-नामक वृद्ध राक्षस आया। उसने संदेश दिया कि अपने नाना माल्यवान् के निषेध करने पर भी रावण सीता से विवाह करना चाहता है। यह वचन सुनकर सीता को घृणा हुई। लक्ष्मण ने अपनी

घृणा राम से प्रकट की; परंतु उन्होंने रावण के वीरत्व की प्रशंसा करके कहा—सज्जनों से वैर रखने पर भी वह निंदनीय नहीं है। सर्वमाय ने भी रावण की बड़ी सराहना की।

अभी राक्षस दूत को कुछ उत्तर नहीं मिला था कि रक्त-मज्जा से परिपूरित, आँतों से गुँथे हुए सिरों की माला पहने, भीषण रूप से घोर शब्द करती हुई ताड़का राक्षसी यज्ञार्थ आते हुए महर्षियों पर झपटी। विश्वामित्र ने उसे मारने के लिये राम से कहा। पहले तो स्त्री-वध के विचार से राम को कुछ संकोच हुआ, पर मुनि के समझाने पर उन्होंने एक ही बाण से उसे यमलोक भेज दिया। इस औचित्य और शूरता को देखकर सकल सभा को विस्मय हुआ। वृद्ध राक्षस को यह कर्म शूल-सा लगा; परंतु वह निरुपाय था। रावण के संदेश का उत्तर माँगने लगा। उत्तर देने का पूर्ण अधिकार जनक को था। वह यज्ञ कर रहे थे, और राक्षस को कुशध्वज तथा विश्वामित्र के पास भेज दिया था। इसलिये उत्तर का विषय कुछ निश्चित न हुआ।

अब विश्वामित्र ने शुभ मुहूर्त जानकर गुरु से पाए हुए दिव्य अस्त्र रामजी को देने चाहे। इस परामर्श से कुशध्वज और लक्ष्मण आदि बहुत प्रसन्न हुए। देखते-ही-देखते तप्त कांचन के समान, बिजली के समान, महातेजोमय अस्त्र अंतरिक्ष में प्रकट हुए, जिससे सब दिशाएँ प्रकाश-पूर्ण हो गईं, और सूर्य का तेज भी हीन भासित होने लगा। मुनि की आज्ञा

से रामजी ने दिव्यास्त्रों की वंदना की, परंतु विसर्जन करने से पहले मुनि से आज्ञा ले ली कि लक्ष्मण भी इस अस्त्र-संप्रदाय में शामिल होंगे।

इस अद्भुत शक्ति को देख राजा कुशध्वज से न रहा गया। जो बात अभी तक मन में थी, उसे उन्हें प्रकट करना पड़ा। रामभद्र को सीता के साथ ब्याहने का निश्चय करके राजा दशरथ के बुलाने का प्रबंध होने लगा। विश्वामित्र ने संशय मेटने के लिये कुशध्वज से कहा—ध्यान द्वारा शिव-धनु का आवाहन करो। थोड़ी ही देर में सहस्र वज्र के समान कठिन तेजोमय धनु उपस्थित हुआ, और रामजी ने क्षण-मात्र में उसे उठाकर और चढ़ाकर तोड़ दिया। धनुष टूटते ही ऐसा भीम शब्द उत्पन्न हुआ कि ब्रह्मांड कंपित हो उठा।

इन विचित्र लीलाओं को देखकर राक्षस सर्वमाय के छक्के छूट गए। उसने समझ लिया कि राक्षस-कुलसंहर्ता राम ही होंगे। वह अपने स्वामी की ओर से बहुत कुछ कहता था; परंतु यहाँ सुननेवाला कौन था?

राजा कुशध्वज को इतना प्रेम उमँगा कि उन्होंने राम को हृदय से लगा लिया, और उर्मिला को लक्ष्मण के साथ ब्याहने का संकल्प कर लिया। मुनि ने इच्छा प्रकट की कि मांडवी तथा श्रुतकीर्ति का विवाह भरत तथा शत्रुघ्न से हो। राजा ने यह भी स्वीकार कर लिया; क्योंकि विश्वामित्र का कहना जनक, शतानंद आदि कोई नहीं टाल सकते थे।

अब मुनि ने शुनःशेप को अपने दिव्य बल से आकाश द्वारा अयोध्या भेजा कि वह जाकर वशिष्ठजी को यह वृत्तांत सुनावे, और ब्रह्मर्षियों तथा राजा दशरथ समेत उन्हें मिथिलापुरी लावे। यह घटना राक्षस को अच्छी न लगी। उसने फिर एक बार रावण की प्रशंसा की; पर सब व्यर्थ था।

इतने ही में सुबाहु एवं मारीच नाम के दो कराल राक्षस दौड़ते हुए आए। इनके द्वारा यज्ञ में होते विघ्न देखकर मुनि ने राम-लक्ष्मण को आज्ञा दे दी, जिन्होंने दोना दुष्टों को परास्त कर दिया।

अब जनकपुर में विवाह की तैयारी होने लगी। अयोध्या से वशिष्ठ, दशरथ, भरत, शत्रुघ्न आदि बरात लेकर आए, और बड़ी धूमधाम से विवाह हुआ।

सर्वमाय राक्षस ने लंका जाकर रामचंद्र के उत्कर्ष का सब वृत्तांत रावण के नाना माल्यवान् से कहा। ताड़का, सुबाहु के वध से उसे तीव्र उत्ताप था। विश्वामित्र द्वारा राम को दिव्यास्त्रों की प्राप्ति उसका हृदय दग्ध करती थी। रावण के साहस पर विचार करने से उसका रक्त सूखा जा रहा था। उसे विश्वास हो गया कि राक्षस-कुल का अंत राम ही के द्वारा होगा।

इसी समय शूर्पणखा नाम रावण की भगिनी ने आकर बतलाया कि सीता का विवाह राम से हो गया है, और महर्षि अगस्त्य ने रामचंद्र के पास भेंट में माहेंद्र-धनुष भेजा

है। इससे माल्यवान् की चिंता और भी बढ़ी। उसने सोचा, जिस राम पर बड़े-बड़े मुनि ऐसी कृपा करके उसे उत्तम-उत्तम हथियार देते हैं, जिसके साथी जनक आदि प्रभावशाली राजा हैं, जिसके उत्कर्ष पर देवता लोग दुंदुभी-ध्वनि तथा पुष्प-वर्षा करते हैं, जिसमें अलौकिक बल-वीर्य के चिह्न प्रकट हैं, वह अवश्य ही राक्षसों का शत्रु होगा। विशेषकर ब्रह्मा ने रावण का वध मनुष्य के हाथ बतलाया है, इससे और भी भय है।

माल्यवान् इसी भ्रम में पड़ा था कि परशुराम के यहाँ से एक संदेशहर चिट्ठी लाया। इसमें मुनि ने लिखा था कि हमने दंडक-वन के तपस्वियों को अभय किया है, इसलिये दनुकबंध आदि राक्षसों को वहाँ उत्पात न करना चाहिए, और यदि हमारा कहना मानोगे, तो महादेव की प्रीति के कारण हम तुम्हारे साथी रहेंगे, अन्यथा क्रोध करेंगे।

इस पत्र से और भी चिंता बढ़ी; क्योंकि परशुरामजी संसार-भर में वीरशिरोमणि थे, उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया था, और पिता के वचन से अपनी माता को भी मार डाला था। वह योग और तप में भी अद्वितीय थे। उन्होंने पृथ्वी मंडल का राज्य जीतकर अपने गुरु कश्यप को दे दिया था; अपनी वीरता से देवसेनानी स्वामिकार्तिकेय को भी जीत लिया था; और महादेव को प्रसन्न करके उनसे परशु पाया था। रावण को भी वह एक प्रकार से जीत

चुके थे; क्योंकि जिस सहस्रार्जुन ने रावण को पकड़कर बाँध लिया था, उसे इन्होंने सहस्र भुज काटकर परास्त कर दिया था। यथार्थ में ऐसे वीर पुरुष का क्रोध रावण के लिये भय-कारी था।

इस शंका में पड़कर माल्यवान् ने कूट-नीति सोची। उसने निश्चय किया कि राम ने महादेव का धनुष तोड़ा है, और परशुराम महादेव के शिष्य हैं, इसलिये उन्हें राम के विरुद्ध उत्तेजित करना चाहिए। राम और परशुराम से लड़ाई ठनने पर यदि राम पर विपत्ति आई, तो सब काम बन जायगा; किंतु यदि परशुराम हारे, तो राम का गर्व और भी बढ़ेगा। इस दशा में बुराई है; परंतु इसका उपाय सोचा जायगा।

माल्यवान् ने अपने निश्चय के अनुसार महेंद्र-द्वीप में जाकर परशुराम को उत्तेजित किया। वीर मुनि क्रोधांध होकर अस्त्र-शस्त्र-समेत जनकपुर पहुँचे।

परशुराम का आना कोई साधारण बात नहीं थी। समग्र नगर में खलबली मच गई। दासी-दास घबरा उठे, स्त्रियों के हृदय दहलने लगे, सीताजी को चिंता हो गई, लोग देवतों की स्तुति करने लगे। परंतु राम के मन में अत्यंत उत्साह था। मुनि के तपोबल को देखकर इनके हृदय में भक्ति और ब्राह्मण-पूजन की तरंगें उठती थीं, वीर-रस को देखकर युद्ध के लिये मन उमँगता था, अहंकार देखकर और अपने

मुँह आत्मप्रशंसा सुनकर इनकी धीरता और गंभीरता अपना प्रभाव दिखाती थी। स्वयं विचार करते थे—

हाथ गहे हैं कठोर कुठार, जटा-सी लसै जहँ जोति की ज्वाला ;
काँधे निषंग है, बाँधे जटा, कटि तीर कसे, तन पै मृगछाला।
हाथ में बान कलाई पै सोहत, डोलत पावन अच्छ की माला ;
राजत हैं इकसंग मिले जनु, शांति स्वरूप औ बेष कराला।

ऐसे समय में भी रामजी को क्रोध नहीं हुआ; परंतु मुनि के देखने की लालसा प्रबल थी। सीता ने बहुत कुछ रोका; पर उन्हें धैर्य देकर और समझा-बुझाकर यह मुनि के सामने प्रकट हुए। कहाँ तो परशु चमकाते हुए परशुराम यह सोचकर आए थे कि देखते ही प्रहार करूँगा, कहाँ राम की मोहिनी मूर्ति और अक्षोभ्य गांभीर्य को देखकर छक गए, और उन्हें हृदय में लगा लेने की इच्छा की। परंतु यह उचित समय नहीं था। उस पर राम निःशंक और उत्तेजक बातें कहते थे। परशुराम की विचित्र दशा थी। न क्रोध का दिखावा छोड़ सकते थे, और न प्रहार करने का साहस कर सकते थे। केवल अपने पुराने वीर कर्मों की सराहना और क्षत्रिय-कुल से वैर की गाथा गा-गाकर धमकाते थे।

राजा जनक और उनके पुरोहितों ने सलाह की कि यदि महामुनि परशुराम ब्राह्मण की भाँति पधारे हैं, तो अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क आदि से उनका सम्मान किया जाय; परंतु यदि वैर-

वृत्ति से आए हैं, तो युद्ध की तैयारी की जाय। इसी विचार से इन लोगों ने आकर परशुराम से भेंट की, और उनसे यथार्थ वृत्त पूछा। अब कुछ देर के लिये रामजी को छुट्टी मिली ; वह परशुराम से आज्ञा लेकर कंकण खोलने के लिये रनिवास चले गए। परशुराम भी जनक और शतानंद-समेत वशिष्ठ व विश्वामित्र के डेरे में गए।

वहाँ पर वशिष्ठ व विश्वामित्र ने परशुराम को बहुत समझाया कि राजा दशरथ बड़े प्रतापी हैं. इंद्र भी इनसे सहायता लेते हैं; इनके पुत्र पर कोप करना अयोग्य है; आप ब्राह्मण हैं, आपका काम तपस्या और योग है, इन झगड़ों में पड़ना ठीक नहीं; राजा जनक कैसे धार्मिक और सिद्ध पुरुष हैं; अपने जामाता के मंगल के लिये आपसे याचना करते हैं; इनका मन न तोड़ना चाहिए।

वशिष्ठ ने विश्वामित्र के वीरत्व और तप की प्रशंसा करके कहा कि ऐसे महापुरुष का वचन सर्वथा माननीय है। विश्वामित्र ने वशिष्ठ और परशुराम का चचा-भतीजे का संबंध दिखलाकर राम के लिये क्षमा माँगी। परंतु हठी परशुराम को कुछ भी नहीं सूझता था। ऐसे ऋषियों का अपमान करके उन्हें प्रायश्चित्त करना स्वीकृत था; पर शिव-धनुष तोड़नेवाले को क्षमा नहीं कर सकते थे। समझाने पर भी परशुराम ने खुल्लमखुल्ला चुनौती देकर कहा कि वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि सबके तपोबल को अपने तपोबल से

भस्म करके उनके अस्त्र-शस्त्रों को अपने कुठार से काट डालूँगा।

ऐसी रूखी बातें जनक के पुरोहित शतानंद से न सुनी गईं। उन्होंने परशुराम को बड़े कटु वचन कहे, और उनके कठोर उत्तर देने पर शाप देने के लिये उन्होंने कमंडलु से जल लिया। परंतु दशरथ और वशिष्ठ के कहने पर चुप हो गए।

अब जनक और दशरथ की बारी आई। इन्होंने भी जब देखा कि हाथ जोड़ने और विनय करने से कुछ काम नहीं चलता, तो राजधर्म से परशुराम को दंड देने की धमकी दी; पर उन्हें इक्कीस बार क्षत्रिय-संहार कर डालना ही स्मरण आता था, और कोप में कोई कमी न होती थी।

एक ओर वशिष्ठ, शतानंद, विश्वामित्र, जनक, दशरथ और दूसरी ओर अकेले परशुराम। नाना प्रकार की धमकियाँ और क्रोध की बातें होती ही थीं कि इतने में रामचंद्र ने रनिवास से लौटकर पुकारा। मुनियों और राजों ने युद्ध करने की अनुमति दे दी। बाहर जाकर युद्ध हुआ, जिसमें परशुराम-जी छक गए, रामचंद्र के साथ ही लौटकर पहले की हुई धृष्टता की क्षमा मुनियों से माँगी, और राजों की प्रशंसा की। उन्होंने मुक्तकंठ होकर राम की धीरता, वीरता, शील, गुण आदि की प्रशंसा की, और चलते समय अपना धनुष रामचंद्र को देकर दंडक-वनवासी मुनियों की रक्षा भी उन्हीं को सौंपी।

परशुराम के चले जाने पर विश्वामित्र ने भी विदा माँगी, और वशिष्ठ को साथ लेकर अपने आश्रम को गए।

परशुराम को जिस काम के लिये माल्यवान् ने उत्तेजित किया था, वह तो हुआ नहीं; प्रत्युत रामचंद्र का प्रभाव और भी झलकने लगा। इसलिये उसने दूसरी कपट-नीति सोची। उसे ज्ञात हो चुका था कि अयोध्या से मंथरा नाम की चेरी राजकुमारों को देखने के लिये जनकपुर गई है, इसलिये शूर्पणखा को बुलाकर उसने आज्ञा दे दी कि तुम मंथरा के हृदय में समाकर उससे यह वचन कहलाओ कि मध्यम रानी कैकेयी को राजा दशरथ ने दो वरदान देने के लिये कहा था। इसलिये एक वरदान से तो भरत राजा बनाए जायँ, और दूसरे से राम, सीता, लक्ष्मण दंडक-वन जायँ।

माल्यवान् बड़ा नीतिज्ञ था। उसने सोचा, यदि रामचंद्र दंडक-वन में आवेंगे, तो पहाड़ों और वनों के अपरिचित होने से उन पर शीघ्र ही चढ़ाई हो सकती है। उसने यह भी विचारा कि रावण ने सीता को हर लाने का निश्चय किया है, इससे यह काम भी सहज पड़ेगा, और स्त्री के विरह में राम या तो गृहस्थ-धर्म छोड़कर मुनि-वृत्ति ग्रहण करेंगे, या आकर रावण से मेल करेंगे।

माल्यवान् को विभीषण की ओर से बड़ा खटका था। यदि उसे गुप्त या प्रकट दंड दिया जाय, तो सब राक्षस अप्रसन्न हो जायँ; और यदि वह लंका से निकलकर खर-दूषण आदि

राक्षसों से रावण के विरुद्ध मेल कर ले, तो सभी काम बिगड़े। परंतु दूरदर्शी माल्यवान् ने यह भी सोचा कि उस दशा में उसका बालि के द्वारा वध करा दिया जायगा। यदि रामचंद्र बालि को भी मार डालें, तो लंका की रक्षा का कोई उपाय न रहेगा।

माल्यवान् की कूट-नीति सफल हुई ; शूर्पणखा ने अपना काम पूरा किया। राम माता की आज्ञा मान पिता की आज्ञा लेने के लिये उनके डेरे में गए, तो वहाँ और ही रचना देखी। भरत के मामा युधाजित्, जनक, दशरथ और वामदेव मुनि की सलाह से रामचंद्र के यौवराज्याभिषेक की तैयारी हो रही थी। रंग में भंग हो गया, और वचन-बद्ध होकर राजा दशरथ से भी कुछ न करते बना। दशरथ और जनक मूर्च्छित हो गए। रामचंद्र ने इन सबकी परिक्रमा करके लक्ष्मण और सीता-समेत वन की तैयारी की। युधाजित् और भरत ने बहुत समझाया; परंतु दृढ़व्रत राम का व्रत नहीं टूट सकता था। निराश होकर भरत ने रामचंद्र की खड़ाऊँ ले लीं, और स्वयं अयोध्या से बाहर नंदिग्राम में रामचंद्र के लौटने तक रहने का संकल्प किया। राम ने भी कुछ दिन चित्रकूट में रहकर और विराध आदि राक्षसों को मारकर शरभंग और सुतीक्ष्ण आदि मुनियों के दर्शन करते हुए अगस्त्य मुनि के कहने से पंचवटी नाम के एक स्थान में कुटी बनाई।

यहीं शूर्पणखा रामचंद्र के पास अपना मनोरथ पूर्ण कराने

गई। लक्ष्मण ने क्रोध से उसके कान, नाक और ओंठ काट लिए। इस पर खर-दूषण आदि चौदह सहस्र राक्षसों ने राम पर चढ़ाई की; परंतु वीर राम ने इन सबको मुहूर्त-मात्र में नष्ट कर दिया।

इसी स्थान के निकट जटायु-नामक गृध्रराज रहता था। यह कई युगों का बूढ़ा होने पर भी अत्यंत बलवान् था, और स्वर्गवासी राजा दशरथ की मित्रता के कारण रामचंद्र पर पुत्रवत् स्नेह रखता था। इसका बड़ा भाई संपाति मलयाचल पर पड़ा रहता था; क्योंकि एक बार सूर्य-मंडल के समीप उड़ते-उड़ते उसने जटायु की रक्षा के लिये अपने पंख फैला दिए थे, जिससे वे जल गए। एक समय जटायु उसके यहाँ गया, और रामचंद्र की कथा सुनाई। उसने जटायु को अच्छी तरह समझा दिया कि खर-दूषण आदि के वध से रावण क्रुद्ध हो गया होगा, और रामचंद्र से बदला लेगा, इसलिये उनकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिए।

जब तक जटायु अपने भाई के पास से लौटे, तब तक कपट-मृग मारीच ने राम-लक्ष्मण को सीता से अलग कर दिया, और रावण ने योगी के वेष से सीता को अपने रथ पर बिठा लिया। मार्ग में जटायु से भेंट हुई, जिसने अत्यंत कराल युद्ध करके अपना शरीर रामचंद्र के कार्य में अर्पण कर दिया।

शिकार से लौटकर राम-लक्ष्मण ने सीता के हर लिए

जाने पर बड़ा दुःख किया, और जटायु की अंतिम क्रिया विधिवत् की। अब पंचवटी में क्या करते; दोनों भाई दक्षिण के घने जंगलों में घुसे, जहाँ दनुकबंध-नामक राक्षस रहता था, जिसे माल्यवान् ने रामचंद्र के मारने के लिये इस वन में भेजा था। यह उसके मिलने की आशा ही करते थे कि उसने श्रमणा नाम एक शबर-जाति की तापसी पर, जो राम के पास आ रही थी, आक्रमण किया। तापसी के चिल्लाने पर लक्ष्मणजी दौड़े, और कबंध को मारकर चिता में फूँक दिया। यह शाप से राक्षस हो गया था; अब इसकी मुक्ति हो गई। इसलिये इसने रामचंद्र की स्तुति करके बतला दिया कि बालि नाम वानरों का राजा रावण का मित्र है, और आप-के मारने का उद्योग कर रहा है।

शबरी ने आकर विभीषण की चिट्ठी राम को दी, जिसमें उसने अपने को राम को समर्पण कर दिया था। चिट्ठी में लिखा था—

> जाके भाग तेहि, होई गति संसार ;
> एक धर्म को बुद्धि इक, आयु धर्म रखवार।

इस चिट्ठी को सुनकर राम ने प्रतिज्ञा की कि विभीषण ही लंकेश्वर होंगे। फिर शबरी द्वारा यह वृत्त मिला कि खर-दूषण के मारे जाने पर विभीषण ने रावण का साथ छोड़ ऋष्यमूक-पर्वत पर बसे हुए सुग्रीव से मित्रता की है। जब रावण सीता को हरकर लिए जाता था, तो अनसूया का दिया हुआ दुपट्टा

गिर पड़ा था, जिसे इन लोगों ने उठा लिया था। इनके साथ वीर हनुमान् भी थे, जो पवनदेवता के बीज से उत्पन्न, केसरी वानर और अंजनी अप्सरा के पुत्र थे, और जिन्होंने जन्म-समय ही से ऐसी लीला की कि देव और असुर सभी घबरा गए। इनकी सहायता के लिये और वानर भी ऐसे थे—

सागर को नरकेल के नीर समान जे चिल्लुन पीके चुकावैं ;
थोरेहि यत्न से गूलर के फल-से गिरिखंड उठाय बहावैं।
बाँस के रूख समान ब्रह्मंड समस्त जो एकहि बार हिलावैं ;
ऐसे करोरन बानर बीर सुरेस के पुत्र को सीस नवावैं।

आगे चलकर बालि के मारे हुए दुंदुभी दैत्य की हड्डियों का समूह उजले पर्वत के समान मिला ; जिससे मार्ग रुका था, उसे रामचंद्र ने पैर के अँगूठे से फेंक दिया। यह भी असाधारण बल का काम था।

अस्थि-राशि के हट जाने से ऋष्यमूक और पंपा-सर के पास की भूमि दिखलाई दी। आगे मतंग मुनि का आश्रम था, जहाँ से हवन का सुगंधित धुआँ आता था। इस देश की मनोहरता ऐसी विचित्र थी, जिसने धीर राम को भी सीता-विरह के कारण क्षुब्ध कर दिया।

रामजी प्रतीक्षा ही कर रहे थे कि माल्यवान् द्वारा उद्वेजित होकर बालि वानर आया—

स्वर्नमई गल में पहिरे सुरनाथ की दीन्ही सरोज की माला ;
पिंग सरीर की सोभा सोई बिजुरी घन ज्यों रबि डूबन काला ।
ऊपर राजत अंग सिकोरि उठ्यो जनु गेरु को सैल बिसाला ;
राह बनावत बेग सों स्वर्ग में आवत इंद्र को पुत्र कराला ।

बालि था तो बड़ा वीर, और माल्यवान् के कहने-सुनने से लड़ने पर भी उद्यत हो गया ; पर उसे रामचंद्र से लड़ना अच्छा नहीं लगता था। वह इनका सुयश सुन चुका था, इनकी मोहिनी मूर्ति से प्रेम-पूरित हो गया था, इनके अप्राकृत मनुष्य होने का निश्चय रखता था, और विना कारण शत्रुभाव दिखाना अयोग्य समझता था। उसने लड़ाई बराने के लिये बहुत उपाय सोचे ; परंतु वीरता में धब्बा लगने के डर और अपना वचन पूर्ण करने के विचार से उसे भिड़ना ही पड़ा। रामचंद्र ने एक ही बाण से उसका हृदय बेध दिया।

यह वृत्त सुनकर सुग्रीव, विभीषण और वानर सहायता के लिये दौड़े; पर बालि ने शपथ-पूर्वक उनसे कहकर कि अब तुम लोग रामचंद्र की सहायता करो, प्राण छोड़े ।

बालि के पीछे किष्किंधा का राज्य सुग्रीव को मिला, और राजतिलक करने के लिये लक्ष्मणजी नगर को गए। रामचंद्र ऋष्यमूक-पर्वत पर रहे। यहीं पर अगस्त्य मुनि ने आकर आदित्य-हृदय स्तोत्र दिया, और कमंडलु का जल छिड़ककर दिव्य दृष्टि दे दी, जिससे रामचंद्र को अप्रत्यक्ष बातें भी प्रत्यक्षवत् दिखलाई देने लगीं। इस दिव्य दृष्टि के कारण

राक्षसों की माया इन्हें धोका नहीं दे सकती थी। जो-जो माया-विषयक विचार लंका में हो रहे थे, वे सब इन्हें ज्ञात हो गए, और उनसे सचेत रहने के लिये लक्ष्मण के पास भी संदेश भेज दिया गया।

सीता का पता लगाने के लिये बहुत-से वीर गए। इनमें से हनुमान् ने समुद्र पार करके, अक्ष आदि बहुत-से राक्षस-वीरों को मारकर, लंकापुरी को फूँककर, और सीताजी से अभिज्ञान के लिये चूड़ामणि लेकर, रामजी को सच्चा वृत्त सुनाया।

वर्षा-ऋतु बीत जाने पर वानरों व रीछों की अगाध सेना इकट्ठी होकर लंका को चली। पर वहाँ पहुँचने के लिये समुद्र पार करना आवश्यक था। इसलिये रामचंद्र ने समुद्र से मार्ग माँगा, और न देने पर बाण द्वारा उसे दंड दिया। सागर ने सेतु बनाने की आज्ञा दी, जिसे वीर वानरों ने अल्प काल ही में पूरा कर लिया। अब सेना ने लंकापुरी घेर ली, और अंगद दूत बनकर रावण के यहाँ गए। रावण को राम के शरण में आना स्वीकार न हुआ; इसलिये युद्ध की घोषणा कर दी गई।

रावण के यहाँ समझानेवालों की कमी नहीं थी। इसके उग्र प्रताप के सामने किसी का साहस नहीं होता था कि कुछ कहे, तब भी किसी-न-किसी प्रकार मनोवृत्ति प्रकट ही कर दी जाती थी। इसकी प्रधान रानी मंदोदरी ने बहुत कुछ उप-

देश किया ; पर इसने उस पर कान न दिया, और आत्म प्रशंसा की झड़ी बाँध दी—

> चतुरानन जानै भलो, मो श्रुति ज्ञान अपार ;
> आज्ञा सुरपति जस जगत, धीरज वज्र प्रचार ।
> बल जानै कैलास गिरि, साहस त्रिभुवननाथ ;
> चरन चढ़ाए तासु जब, काटि सीस निज हाथ ।

रावण का छोटा भाई कुंभकर्ण, जो एक ही साथ छः महीने सोता था, जगाया गया। ज्येष्ठ पुत्र मेघनाद, जो इंद्र को भी जीत लाया था, तैयार हुआ, और बड़े-बड़े योद्धा अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित हो संग्राम-भूमि को गए। इनके बीच में रावण था। रावण आदि को रथारूढ़ देखकर इंद्र ने अपना युद्ध-रथ राम के लिये भेजा। घोर संग्राम होने लगा ; नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलने लगे। वानरों की ओर से वृक्षों, शिलाओं आदि की वृष्टि होती थी। बड़े-बड़े वीर कट-कट गिर रहे थे। रावण अपना अपूर्व वीरत्व दिखला रहा था। पर राम अटल थे। राक्षस-सेना की छीज होने लगी। कुंभकर्ण मारा गया।

अब राक्षसों ने माया की, जिससे राम-लक्ष्मण को कुछ मंदता आ गई। तुरंत ही हनुमान् ने द्रोणाचल लाकर उसकी वनस्पतियों के गंध से सब काम बना लिया। फिर युद्ध होने लगा। राम-रावण का सामना था। लक्ष्मण और मेघनाथ का सामना था। चारों दिशाएँ धूलि से व्याप्त थीं। सूर्य-मंडल छिप

गया था। इंद्रादि देवता आकाश से सविस्मय युद्ध देख रहे थे। वीर राम-लक्ष्मण ज्यों-ज्यों अपने प्रतिपक्षियों के सिर काटते थे, त्यों-त्यों नवीन उगते जाते थे, जिससे दिव्य ऋषिगण को विस्मय होता था। इस विस्मय को देखकर—

> धारि ब्रह्म हरि अस्त्र, बान दोउ बीर चलाए;
>
> छन महँ रावन, मेघनाद-सिर काटि गिराए।
>
> राक्षस रुंड गिस्यो पीछे, पुनि राक्षस-नारी ;
>
> दोउ राघव सिर फूल, बृष्टि मुनि-देवन डारी।

रावण के वध से देवतों, ऋषियों आदि को सुख मिला ; बंदी छोड़ दिए गए ; सीताजी बुलाई गईं। परंतु राक्षस के यहाँ रहने से राम ने उन्हें स्वीकार न किया, इसलिये सीताजी ने अग्नि में प्रवेश करके अपना पातिव्रत धर्म दिखलाया। साक्षात् अग्नि ने उन्हें रामचंद्र को सौंपकर शुद्धि का प्रमाण दिया।

अब पुष्पक-विमान मँगाया गया, जो पहले कुबेर का था; पर रावण ने छीन लिया था। उस पर राम, सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण आदि सब चढ़कर आकाश-मार्ग से अयोध्या को चले। सीताजी को सेतु, दंडक-वन, विंध्याचल आदि उत्तम-उत्तम दृश्य दिखाते अयोध्या पहुँचे। हनुमान् ने पहले ही से भरत को संदेश सुना दिया। वे दोनों भाई सेना-समेत अगवानी को आए। इस समय की भेंट से सब लोग प्रेम-सागर में डूबने लगे। अयोध्या पहुँचने पर पूरा स्वागत हुआ ; वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ने मिलकर रामचंद्र का राज्यतिलक

कर दिया। ब्रह्मा, महादेव, इंद्र आदि देवता, दशरथ राजा, जो इस समय इंद्रलोक में थे, आए, और श्रीरामचंद्र को भाँति-भाँति के आशीर्वाद देकर अपने-अपने घर पधारे। महाराज राम ने यही वर माँगा—

आलस छोड़ि महीप सबै यहि देस की नित्य करैं रखवारी;
औसर पै बरसै जल, ईति सों लोक बचै, सब होहिं सुखारी।
पाय प्रसाद करैं रचना कबि लोग प्रमोद के हेतु बिचारी;
पंडित हू सुख पावैं सदा, पर के नित ग्रंथ प्रबंध निहारी।

उत्तर-रामचरित

जब श्रीरामजी रावण को मारकर अयोध्यापुरी को लौटे, तो उनके साथ सुग्रीव, विभीषण आदि वानर और राक्षस भी आए थे; और राज्याभिषेक के समय चारों ओर से बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि और राजर्षि पधारे थे। इन सबने बहुत दिन तक बड़ा उत्सव मनाया। तब महाराज राम से आज्ञा लेकर अपने-अपने स्थान की तैयारी की। इनके चले जाने से अयोध्या एक प्रकार से शून्य-सी हो गई।

बड़ी रानियाँ आदि भी उस समय घर पर नहीं थीं; क्योंकि वे वशिष्ठ और अरुंधती के साथ ऋष्यशृंग की बारह वर्षवाली यज्ञ में गई थीं। यह ऋष्यशृंग विभांडक के बेटे और श्रीरामजी के बहनोई थे। राजा दशरथ के एक कन्या शांता थी, जिसे राजा लोमपाद ने अपनी लड़की मानकर ले लिया था, और ऋष्यशृंग के साथ विवाह कर दिया था।

इन सबके चले जाने से विशेषकर राजा जनक के जाने से, जो अभिषेक महोत्सव में आए थे, सीताजी का जी कहीं नहीं लगता था। उस समय सीताजी गर्भवती थीं, इस-

लिये उनका जी बहलाना बहुत आवश्यक था। अतः महाराज नानाविध बातों से और ज्ञान से उन्हें समझाते-बुझाते थे।

अभी रामजी का नया-नया राज्य था, और अयोध्या चौदह वर्ष बिना राजा के रह चुकी थी, इसलिये प्रजा को प्रसन्न और सुखी रखने के लिये रामचंद्र पूरा प्रयत्न करते थे। उधर कुल-गुरु वशिष्ठ भी उदासीन नहीं बैठे थे; बल्कि समय-समय पर, संदेश द्वारा, रामजी को प्रजा-पालन का उपदेश करते जाते थे।

इस अवसर पर अष्टावक्र मुनि संदेश लाए। इनके द्वारा वशिष्ठजी ने सीताजी को वीरजननी होने का आशीर्वाद भेजा था, और अरुंधती, शांता, कौशल्या आदि रानियों ने संदेश दिया था कि गर्भधारण के कारण सीताजी की जो कुछ इच्छा हो, वह अवश्य पूर्ण की जाय। वशिष्ठ मुनि ने आज्ञा दी थी— हे राम, अभी आप बालक ही हैं, राज्य नया है, इसलिये प्रजा के प्रसन्न रखने में पूरा यत्न करना। इन संदेशों को रामचंद्र ने स्वीकार करके कहा कि प्रजा की प्रसन्नता के लिये और धन-धान्य क्या, जानकीजी तक को मैं त्याग दूँगा। धन्य प्रजावत्सलता!

अष्टावक्र के चले जाने पर लक्ष्मणजी ने आकर रामजी से कहा कि सीताजी की अग्नि में शुद्धि के समय तक का आपका चरित्र चित्रकारों ने चित्रवीथी में खींच दिया है, उसे देख लीजिए। 'शुद्धि'-शब्द से पुरानी व्यथा का स्मरण होता

था, इसलिये राम ने कुछ सांत्वना की बातों से उसका परि-मार्जन कर दिया, और सीता तथा लक्ष्मण को साथ लेकर चित्र देखना आरंभ किया। जृंभकास्त्रों को देख सबने प्रणाम किया। राम ने उनकी प्रशंसा के अनंतर कहा कि अब ये अस्त्र महारानी सीता की संतान को मिलेंगे। मिथिला-वृत्तांत देखा, जिसमें महामुनि विश्वामित्र, वशिष्ठ, गौतम, राजा जनक, दशरथ, चारों भाई राम, चारों बहनें सीता आदि सब समयानुसार कर्म करते हुए बने थे। बीच-बीच में पुराने प्रेम की बातें कर-करके रामजी समय बिताते थे। परशुराम का भय-जनक आगमन, मंथरा-वृत्तांत आदि चित्र अच्छी भाँति देखे गए। शृंगवेरपुर का इंगुदी-वृक्ष देखा। गंगाजी देख पड़ीं; राम ने स्तुति करके सीता की रक्षा का भार गंगाजी को सौंपा। विंध्य-पर्वत, प्रस्रवण-पर्वत, उनके घने जंगल, नदियाँ, सोते, मुनियों के स्थान, तपोवन, पंचवटी आदि वृत्तांत, शूर्पणखा-आगमन आदि देखे, जिनसे भूतपूर्व वृत्त सब नवीन हो गया, और सीताजी का संयोग-वियोग प्रत्यक्ष-सा दिखलाई देने लगा—

निकट-निकट बैठे गाढ़ जोड़े कपोलं,
यक-यक भुज से द्वौ बाँधि कै कंठबाहीं ;
कछुक-कछुक मंद-मंद बातें सुनाते,
बितवत बिन जाने रात्रि के याम चारों।

तथा—

बनि कपट-मृग छलि इम सदन पापी निशाचर जो कियो ;
सो जतन करि मेट्यो तऊ सुधि होत नित बेधत हियो।
सुनसान दंडक माहिं तेहि छन कीन्ह आप बिलाप जो ;
तब फट्यो बज्रहु को हियो सुनि रोय जड़ पाखान सो।

इसके पश्चात् गृद्धराज जटायु, कबंध राक्षस, मतंग मुनि, श्रमणा शबरी, वीर हनुमान्, माल्यवान्-पर्वत आदि के चित्र देखे गए, जिनसे श्रीराम और जानकीजी की वेदना पुनर्जीवित-सी हो गई। इसके आगे रामचंद्रजी के अद्भुत कर्म—बालि-वध, सेतु-बंधन, युद्ध, रावण-वध—आदि दृश्य थे। परंतु सीताजी थक गई थीं, अतः चित्र देखना बंद कर दिया गया। चित्र-दर्शन का फल यह हुआ कि सीताजी ने फिर उन पर्वतों और वनों में विचरने और शिशिरजला भागीरथी में स्नान करने की इच्छा प्रकट की। बड़ों की ओर से पहले ही आज्ञा मिल गई थी कि जानकी की जो कुछ इच्छा हो, पूर्ण की जाय। अतः लक्ष्मणजी को आज्ञा दी गई कि रथ सजावें।

थक जाने के कारण महारानी सीता को निद्रा आ गई, और वह झरोखे के पास श्रीरामजी के बाहु पर सिर रखकर सो गईं। इस समय श्रीरामजी के मन में अकस्मात् यही होता था कि सीताजी से दुःसह विरह होनेवाला है। वह इसी सोच-विचार में थे कि यह मनोवृत्ति क्यों होती है। इतने में दुर्मुख-नामक विश्वासपात्र चर आया। इसे महा-

राज ने भेजा था कि हमारे नवीन राज्य में देखो कि कौन-कौन लोग हमसे अप्रसन्न हैं; और क्यों हैं, जिससे वे दोष मेट दिए जायँ। दुर्मुख ने कहा कि आपकी नीति एवं प्रजा पर प्रीति देखकर लोग बड़े महाराज दशरथ को भूल गए। परंतु कुछ लोग यह दोषारोपण करते हैं कि सीताजी राक्षसों के यहाँ इतने दिन रहीं, तथापि महाराज ने उन्हें ग्रहण कर लिया! इस वाग्वज्र से महाराज मूर्च्छित हो गए। परंतु फिर चेतना होने पर प्रतिज्ञा की कि जिस लोक-कल्याण के लिये वृद्ध महाराज ने मुझे वन भेज दिया, और अपने प्राण छोड़ दिए, जिसके लिये अभी महामुनि वशिष्ठ ने मुझे संदेश भेजा है, और जिसके लिये रघुवंशी अपनी आत्मा तक अर्पण कर देते हैं, उस कल्याण और प्रजा-रंजन के लिये मैं सीताजी का त्याग कर दूँगा। धन्य मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराज राम!

सीताजी का त्याग कितना कठिन काम था। देव-यज्ञ से उत्पन्न, जगत्पावनी पृथ्वी की कन्या, अग्नि-प्रवेश से अपने पातिव्रतधर्म का प्रमाण देनेवाली देवी, जनक-सुता के साथ ऐसा निर्दय व्यवहार कितना हृदय-विदारक था। परंतु सत्यव्रत, धीर, वीर महाराज ने ऐसा कराल शोक सहन करने के लिये भी कटि बाँधी, और लक्ष्मणजी से कहला भेजा कि सीता को रथ पर बिठाकर घोर वन में छोड़ दें।

सीताजी के सोते-ही-सोते रामजी कभी अपने इस लोक-विलक्षण कर्म पर दुःख करते थे, कभी उनके चरणों पर सिर

रखकर क्षमा माँगते थे, और कभी अपने जीवन की व्यर्थता पर विचार करते थे। इसी बीच में कोलाहल मचा कि यमुना-तीर-वासी तपस्वियों को कुंभीनसी का पुत्र लवण राक्षस त्रास देता है, अतः वे लोग महाराज से शरण माँगते हैं। इस पर क्रोध करके रामजी ने बाहर जाना चाहा, फिर लौटकर सीता को अंतिम बार देखा और भगवती पृथ्वी से उनकी रक्षा के लिये विनय की। तब बाहर निकलकर शत्रुघ्नजी को आज्ञा दी कि लवण राक्षस का उन्मूलन कर दो।

समय आने पर सीताजी जागीं, और इष्ट देवतों तथा पति के चरणों का स्मरण करके लक्ष्मणजी के साथ रथ पर बैठकर वन को गईं। लक्ष्मणजी ने उन्हें वाल्मीकि ऋषि के आश्रम के समीप, गंगा-तट पर, वन में, छोड़ दिया। निरुपाय जानकीजी उस स्थान में विलाप करती-करती किसी को अपना सहायक नहीं देखती थीं। प्रसव-समय आया, और सीता-जी उस असह्य वेदना से पीड़ित होकर गंगाजी में कूद पड़ीं। जल के भीतर ही उनके दो पुत्र हुए, और तत्क्षण ही साक्षात् श्रीगंगाजी और पृथ्वी देवी अपने-अपने रूप से प्रकट हुईं, और एक-एक पुत्र को लेकर पातालपुर भेज दिया। सीताजी उस समय विरह-व्यथित और अपमान के दुःख से व्याकुल थीं, और अपनी माता पृथ्वी से अपने में लीन कर लेने की विनय करती थीं। परंतु दोनों देवियों ने समझा-बुझा पुत्रों का पालन करने के लिये अनुरोध किया, और उन्हें पातालपुरी में

रक्खा। इसी समय जृंभकास्त्र जो सहस्रों वर्ष की तपस्या से मिले थे, और जिन्हें भगवान् विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को दिया था, जाज्वल्यमान सूर्य के समान अंतरिक्ष में प्रकट हुए, और अपने आपको दोनों बालकों के वश कर दिया; क्योंकि चित्र देखते समय रामजी ने सीता देवी से कह दिया था कि यह अमोघ अस्त्र अब तुम्हारी संतान को मिलेंगे।

जब दोनों बालक कुछ बड़े होकर माता से अलग रहने के योग्य हुए, तो गंगा देवी ने उन्हें लाकर वाल्मीकि ऋषि को सौंप दिया। ऋषिराज ने क्षत्रिय-विहित सर्व संस्कार करके बालकों का नाम कुश और लव रक्खा, और उन्हें वेद के अतिरिक्त सब विद्याएँ पढ़ाईं। क्षत्रिय-आचार के अनुसार गर्भ से एकादश वर्ष में उनका यज्ञोपवीत-संस्कार करके वेदाध्ययन कराया गया। उनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी, और धारणाशक्ति इतनी उत्तम कि वाल्मीकिजी के अन्य शिष्य उनके साथ नहीं पहुँच सकते थे।

जेहि विधि गुरू विद्या प्राज्ञै पढ़ाव तथा जड़ै;
नहिं पुनि करै ताके ज्ञानै बढ़ाव-घटाव वा।
तदपि फल में देखो प्रत्यक्ष भेद महान हो;
शुचि मणि गहै बिंबै, मृत्कूट नित्य असार हो।

इसी बीच में दूसरी घटना यह हुई कि एक दिन वाल्मीकि ऋषि मध्याह्न समय तमसा-नदी के किनारे जा रहे थे, जब कि एक व्याध ने क्रौंच-पक्षियों के एक जोड़े में से एक को मार

गिराया। इस दुष्कर्म को देख ऋषि को क्रोध उत्पन्न हुआ, और अकस्मात् उनके मुख से यह श्लोक निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः;
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।

अर्थात्—रे निषाद, न पावे तू प्रतिष्ठा चिर काल लौं;
हन्यो जो युग्मचारी तें, कामी एक रथांग को।

इससे प्रसन्न होकर ब्रह्माजी प्रकट हुए, और ऋषि से कहा कि आपकी वाणी सिद्ध हो गई है, इसलिये आप रामजी का चरित्र बनावें। आपकी बुद्धि अप्रतिहत होगी, और आप आदिकवि माने जायँगे। इस पर वाल्मीकिजी ने रामायण की रचना की, जिसमें वेद से अतिरिक्त नए-नए छंद रक्खे।

वाल्मीकिजी का बहुत समय रामायण बनाने में जाता था, इसलिये उन्हें अन्य शिष्यों के पढ़ाने का समय नहीं मिलता था। अतः आत्रेयी-नामक तापसी उनके आश्रम से अगस्त्यजी के आश्रम को विद्या पढ़ने के लिये जा रही थी। जब मार्ग में दंडकारण्य की वनदेवी वासंती ने उसका स्वागत किया—

सतकार-सनेह-सने नितहीं, अरु माधुरि मंजुल बोलत बानी;
मनसा मति मंगल मोदमयी, भलि भेंट सौं दुष्ट दसा बु दुरानी।
रस रीति जो संगम से पहिले, सो सदा ही सरै सब संक सिरानी;
छल-छिद्रहि छाँड़ि छमा उर दै, छिति छाजत सज्जन साधु सुजानी।

यह वासंती सीताजी पर परम कृपा करती थी, और उनके त्याग का वृत्त आत्रेयी से सुनकर शोकाकुल हुई।

इसे इच्छा हुई कि यदि किसी प्रकार फिर श्रीरामजी का दर्शन हो, तो ऐसे साहस कर्म पर उन्हें बुरा-भला कहूँ।

उस समय रामचंद्रजी कहाँ थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ प्रारंभ किया था, और आचार पूर्ण करने के लिये धर्मपत्नी जानकी के अभाव में उनकी स्वर्णमयी प्रतिमा बनाकर रक्खी थी। यज्ञक्रिया के बीच में ही किसी ब्राह्मण का पुत्र मृतक हो गया। ब्राह्मण ने कहा कि ऐसी अकालमृत्यु केवल राजा के दोष से होती है। इस पर आकाशवाणी हुई कि शंबूक-नामक शूद्र ब्राह्मणोचित तपस्या कर रहा है, अतः यदि राम-जी उसका सिर काट लें, तो धर्म होगा, और ब्राह्मण का बालक जी उठेगा।

आकाशवाणी सुनकर महाराज राम खड्ग लेकर, पुष्पक विमान पर चढ़कर, उस शूद्र की खोज में निकले, और उसे दंडक-वन के जनस्थान देश में तप करता हुआ पाकर मार डाला। इससे ब्राह्मण-शिशु जी गया। शंबूक शूद्र-देह से मुक्त होकर दिव्य पुरुष के रूप में रामजी के समक्ष स्थित होकर स्तुति करने लगा। तब अगस्त्य मुनि के आश्रम को गया। श्रीरामजी भी अब अपना कर्तव्य करके इधर-उधर देखने लगे। जिस जनस्थान में सीता समेत चिरकाल तक रहे थे, उसके पर्वतों, वनों, वृक्षों, नदियों आदि को देखकर रामजी की विरहवेदना दूनी हो गई, पुरानी स्नेहमयी बातें स्मरण आने लगीं।

इधर शंबूक से रामजी का वृत्त पाकर भगवान् अगस्त्य और उनकी स्त्री भगवती लोपामुद्रा दर्शन के लिये उत्सुक हो उठे। उन्होंने उलटे पैरों शंबूक को भेजा कि रामजी को आश्रम पर लावे। मुनि की आज्ञा पाकर महाराज राम स्निग्ध दृष्टि से पंचवटी आदि पूर्व-परिचित स्थानों को देखते हुए आश्रम में पधारे, और वहाँ मुनि व मुनिपत्नी की अतिथि-पूजा स्वीकार करके यज्ञ के अनुरोध से शीघ्र ही लौटे।

साध्वी लोपामुद्रा ने सोचा कि अयोध्या राजधानी है, वहाँ पर राज्य-संबंधी व यज्ञ-संबंधी कार्यों में रामजी का मन व्यग्र रहता है; परंतु यहाँ दंडक-वन में अकेले पूर्व-परिचित स्थान अवश्य देखेंगे, और विरह-व्यथा से व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जायँगे। अतः मुनिपत्नी ने मनुष्य-रूप मुरला-नदी के द्वारा गोदावरी-नदी से कहला भेजा कि सचेत रहें, और जब रामजी की दशा अच्छी न हो, तो अपनी शीतल, मंद, सुगंध वायु से उनका समाश्वासन करें। यही शंका भगवती गंगा को भी हुई। उन्होंने सीताजी को आज्ञा दी कि आज पुत्रों की बारहवीं वर्षग्रंथि बँधेगी, इसलिये गोदावरी-नदी के किनारे अपने हाथ से पुष्प तोड़कर सूर्यनारायण की पूजा करो। मैं तुमको अपने बल से ऐसा अदृश्य कर दूँगी कि मनुष्य क्या, वन-देवता भी तुम्हें न देख सकेंगे। गंगाजी ने सीता की सहायता के लिये मनुष्य-रूपधारिणी तमसा-नदी को भी भेजा।

देवियों की शंकाएँ यथार्थ थीं। जब रामजी अगस्त्याश्रम से लौटे, तो दंडक-वन के स्थानों को देखते हुए प्रेम-विह्वल हो गए। पंचवटी के दर्शन से उनको मोहवश मूर्च्छा हो गई। उधर सीताजी ने आड़ से परमस्नेही रामजी की वाणी सुनकर उन्हें पहचाना, और निकट जाकर महाराज के हृदय पर अपना हाथ रक्खा, जिससे उन्हें फिर चेतना हुई। परंतु अदृश्य होने के कारण वह इस सुख का हेतु निश्चित नहीं कर सकते थे—

हरिचदन के रस महँ बोरे;
कै छिरके ससि-किरन निचोरे।
संजीवनि सम जिय महँ लागत;
जरे जीव मन यहि छन जागत।
यह सोइ परिचित परस पियारा;
तन-मन सकल जियावनहारा।
दुख-मूर्छा सो बेगि नसाई;
मद सम रहत सकल तन छाई।

इसी दशा में कहीं से शब्द हुआ कि जिस हाथी के पट्ठे को सीताजी ने पाला था, वह अपनी हथिनी समेत गोदावरी में विहार करता था; दूसरे मदमत्त हाथी ने उस पर आक्रमण किया है। यह शब्द सुनते ही श्रीरामजी उठ दौड़े, और सीताजी व तमसा भी पीछे से चलीं। इसी समय वन-देवी वासंती भी आ गई, और रामचंद्र के साथ गोदावरी के किनारे पहुँची।

महाराज ने गोदावरी को प्रणाम करके देखा कि पुत्र के समान प्रेमपात्र हाथी ने अपने प्रतिपक्षी को परास्त कर दिया।

सीताजी ने जिन मयूर और मृगों को पाला था, वे सब उस स्थान में दिखलाई देते थे, जिससे रामजी का हृदय द्रवीभूत हो रहा था। वासंती के कहने से वहाँ बैठे, तो चित्त में क्षोभ उत्पन्न हुआ, और विवश होकर दूसरी ओर मुँह करके रोने लगे। वह समझते थे कि वासंती को सीता-परित्याग का वृत्त ज्ञात नहीं है, अतः उसके छिपाने का यत्न करते थे; क्योंकि उससे प्रिय सखी वासंती के दुःखित होने की शंका थी। परंतु जब उसने रामजी से लक्ष्मण-विषयक प्रश्न पूछा, तो उन्हें भासित हो गया कि इसे सीताजी का वृत्त विदित है।

अपना और रामजी का दुःख दूर करने के लिये ज्यों-ज्यों वासंती सीता-विषयक वार्ता करती थी, त्यों-त्यों महाराज राम का धैर्य छूटता जाता था। स्वयं वासंती भी दुःखसागर में डूबती हुई और राम जी से यह कहती हुई मूर्च्छित हो गई कि—

तुम मम जीवन जानकी, तुमहीं हृदय द्वितीय;
तुम मम लोचन-कौमुदी, मम अँग हेतु अमीय।
इत्यादिक प्रिय वचन शत, करि-करि मोहेउ ताहि;
अब केहि कारण ?* शांति हो, प्रश्न-उतर-फल नाहिं।

---

* वासंती कहना चाहती थी कि ऐसी प्यारी सीता का अब क्यों त्याग कर दिया; परंतु शोक के कारण यह वाक्य न समाप्त कर सकी, और प्रश्न तथा उत्तर से कुछ फल न देखकर 'शांति' की इच्छा की।

श्रीरामजी ने वासंती को जगाया, और सीताजी के परित्याग का यथातथ्य वृत्त बतलाया; पर उसे धैर्य नहीं था, उपालंभ-पर-उपालंभ करती जाती थी। रामजी भी विरह-विधुर होकर कभी जानकीजी का संबोधन करते थे, कभी अपनी प्रजाओं का, कभी अपने दुःखों का और कभी वासंती का। अंत में जब किसी प्रकार दुःख-वेग न थाम सके, तो यह कहकर मूर्च्छित हो गए—

> टूटैं देह के बंठ, लगै धरती जनु सूनी;
> फटै हियो, तन जरत, ज्वाल बाढ़ै दिन दूनी।
> घोर अँधेरे माहिँ चेतना डूबन लागी;
> गइ सब सुधि-बुधि भूलि, करौं मैं काह अभागी?

सीताजी और तमसा अदृश्य रूप से पहले से ही साथ थीं, और यह सब दशा देखती जाती थीं। सीताजी की दशा इससे कुछ कम न थी। उनको भी बार-बार मोह होता था। ज्यों-ज्यों वासंती पूर्व बातों का स्मरण रामजी को दिलाती थी, और ज्यों-ज्यों रामजी का धैर्य छूटता जाता था, त्यों-त्यों सीताजी को बुरा लगता था। निदान जब श्रीरामजी को मूर्च्छा आ गई, तो सीताजी भी अपने आपको न सँभाल सकीं, और मूर्च्छित हो गईं। तमसा ने जगाकर उन्हें अपने हाथ से रामचंद्र को स्पर्श करने के लिये कहा, जिससे महाराज फिर सचेत हुए। इस बार उन्होंने सीताजी का हाथ पकड़ना चाहा; परंतु न पकड़ सके। किसी प्रकार धैर्य धारणकर, कुछ देर तक

वासंती से बातें करते रहे। तब यज्ञ की शीघ्रता के कारण फिर विमान पर चढ़ चले। सीताजी भी जगत्पति को प्रणाम करके चली गईं।

कहा जा चुका है कि जिस समय सीताजी वन को भेजी गई थीं, वशिष्ठ, अरुंधती और कौशल्या आदि रानियाँ ऋष्य-शृंग के यज्ञ में थीं। यज्ञ की समाप्ति में अयोध्यापुरी का यह वृत्तांत सुनकर उन सबने निश्चय किया कि सीतारहित पुरी में हम लोग नहीं रह सकते, इसलिये चलकर वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में वास करें। इनके आने पर वाल्मीकिजी ने मधुपर्क आदि से सबका स्वागत-सत्कार किया।

उधर जनकजी अपनी कन्या का दुःख-वृत्त सुनकर चंद्र-द्वीप वन में तपस्या करके अपने मित्र वाल्मीकि से मिलने आए। इनका भी यथोचित सत्कार किया गया।

वशिष्ठजी अरुंधती और कौशल्या को राजा जनक से मिलने के लिये भेजा। इस समय का दुःख वर्णनातीत था; सब लोग सीताजी की बाल्यावस्था का स्मरण कर-कर रो रहे थे। कौशल्याजी शोक-विह्वल होकर अपने संबंधी जनक से कुछ नहीं कह सकती थीं, और उनकी दीन बातें सुनकर मूर्च्छित हो गईं। जनक ने कमंडलु से जल छिड़क-कर उन्हें प्रबुद्ध किया। अरुंधती ने समझाया कि वशिष्ठ के आशीर्वाद के अनुसार इस दुःख का परिणाम अच्छा होगा।

अयोध्यापुरी से महाराज राम ने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा

छुड़ाया। सब राजा-महाराजा उपायन लेकर आगे मिलते थे, और सहायता के लिये अपनी सेना भी साथ कर देते थे। इस समय घोड़ा वाल्मीकि-आश्रम के निकट आया। उस दिन वशिष्ठादि मुनियों के आने से वाल्मोकि के शिष्यों का अनध्याय था, इसलिये उत्सुक बालक इधर-उधर फिर रहे थे। इन्हीं में रामचंद्र का कनिष्ठ पुत्र लव भी था, जिसे देखकर कौशल्या, अरुंधती, जनक, सबके हृदय प्रसन्न-से हो गए। सब लोग उस बालक में रामचंद्र और जानकीजी की समता देखते थे। प्रभाव भी अलौकिक था, रूपश्री अवर्णनीय थी। मुंज, मेखला, भस्म, मँजीठ से रँगे वस्त्र, धनुष-बाण, पिप्पल-दंड आदि देखकर क्षत्रिय ब्रह्मचारी का अनुमान होता था। जनक ने कंचुकी को भेजकर उस बालक का वृत्त वाल्मीकिजी से जानना चाहा; परंतु उन्होंने उत्तर दिया कि यथासमय बतलाया जायगा। अरुंधती देवी यह जानती थीं, परंतु गुप्त रखना चाहती थीं।

इन पूज्य गुरुओं को देख लव ने आकर प्रणाम किया। सबने आशीर्वाद दिया, और अरुंधतीजी ने प्रिय बालक को गोद में बिठा लिया। फिर कौशल्याजी ने अपनी गोद में बिठाकर और राम-सीता की समता देखकर उससे पूछा— भैया, तुम किसके पुत्र हो? उत्तर मिला, मैं माता-पिता को नहीं जानता, केवल भगवान् वाल्मीकि गुरु को जानता हूँ।

यहाँ यह वार्तालाप हो रहा था कि घोड़ा आश्रम के

समीप पहुँच गया। लक्ष्मणजी के पुत्र कुमार चंद्रकेतु घोड़े की रक्षा के लिये आए थे। उनकी आज्ञा हुई कि आश्रम के निकट घोड़ा न जाने पावे। चंद्रकेतु का नाम सिपाहियों से सुनकर कौशल्या और अरुंधती को हर्ष हुआ, और लव को उत्कंठा हुई कि यह कुमार चंद्रकेतु कौन हैं। पूछने पर राजा जनक ने बतलाया कि लक्ष्मण के पुत्र हैं। इससे लव को हर्ष-सा हुआ ; क्योंकि वाल्मीकि ऋषि ने रामायण बनाकर इन दोनों बालकों को पढ़ाई थी, जिससे इन्हें रघुनाथजी का सब वृत्तांत ज्ञात था। जनकजी ने चतुरता से पूछा कि यदि रामायण की सब कथा जानते हो, तो बताओ, दशरथ-जी के चार पुत्रों में से किसके क्या संतान हुई ? लव ने कहा—ऋषि ने रामायण का यह भाग बनाकर अभी किसी को दिखाया नहीं; किंतु अपने हाथ से नाटक-रूप में लिखकर नाट्याचार्य भरत मुनि के यहाँ भेजा है। मेरे ज्येष्ठ भाई कुश भी पुस्तक की रक्षा के लिये साथ गए हैं। वह नाटक अप्सराओं द्वारा खेला जायगा, तब पुस्तक प्रकाशित होगी।

लव के पूछने पर अरुंधती ने जनक और कौशल्या का परिचय दिया। कुमार लव उन्हें बड़े कौतुक से देखते रहे। इतने में अन्य बालकों ने आकर घोड़े का वृत्त लव से कहा, और साथ चलने का आग्रह किया। लव ने वृद्धों की आज्ञा से वहाँ जाकर देखा कि घोड़े के ललाट पर सब क्षत्रिय

वीरों की चुनौती-सी लिखी गई है। यह बात क्षत्रिय-बालक को असह्य थी। शीघ्र ही क्रोध करके बालकों को घोड़ा ले जाने की आज्ञा देकर सैनिकों से युद्ध करने के लिये कहा। निदान युद्ध होने लगा, और अनेक अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा होने लगी। लव का युद्ध देखकर चंद्रकेतु को आश्चर्य हुआ—

लाल किए कछु वदन कोप अति प्रबल जनावत ;
बार-बार टकार करत धनु-कोटि बजावत।
चढ़ो समर सोइ झपटि पाँचहूँ शिखा नचावत ;
बाल वीर यह तीर मेघ के सम बरसावत।

इस वीरता को देख वृद्ध सारथी सुमंत्र का हृदय काँपता था कि कुमार चंद्रकेतु को इसके सम्मुख कैसे ले जाऊँ। परंतु न जाना वीराचार के विरुद्ध था, इसलिये चंद्रकेतु ने आह्वान किया कि हे वीर बालक, सैनिकों के वध से क्या लाभ है, मुझसे भिड़ो। वीर लव उधर आ भी नहीं सकते थे; क्योंकि बहुत-से सैनिक उन पर दूसरी ओर से अस्त्रपात करते थे। परंतु अल्प काल में जृंभकास्त्र से उन सबको स्तंभित कर वह चंद्रकेतु के समक्ष आए। कुमार चंद्रकेतु उस समय धर्मयुद्ध की इच्छा से रथ से उतर पड़े, लव ने आग्रह भी किया कि तुम रथ पर रहो, हम पृथ्वी पर से लड़ेंगे; परंतु यह उचित नहीं था। युद्ध से पहले कुछ बातचीत हुई, जिसमें चंद्रकेतु अपने पितृव्य रामचंद्र की वीरता और लोकोत्तरता की प्रशंसा करते थे, और लव क्षत्रिय-

धर्म-पालन ही अपना परम कर्तव्य समझकर रामचंद्र की वीरता को भी तुच्छवत् कहते थे।

अब दोनों कुमारों का घोर संग्राम प्रारंभ हुआ—

चलैं अस्त्र झंकार से घंट बाजैं ;
भई बान की वृष्टि, कोदंड गाजैं।
नचैं चूड़ दोऊन के युद्ध घोरा ;
बढ़ो जात है भूमि पै होत शोरा।

चंद्रकेतु के आग्नेय अस्त्र से दशों दिशाओं में अग्नि की ज्वालाएँ उठने लगीं, आकाश में विद्युत्प्रकाश होने लगा और लोग घबरा उठे। तुरंत ही लव ने वारुणास्त्र छोड़ा, जिससे अग्नि शांत हो गई, और शीत से अंग काँपने लगे। फिर चंद्र-केतु के वायव्यास्त्र से प्रलय का-सा पवन चलने लगा, और मेघ-मंडल दूर हो गया। इसी प्रकार दोनों कुमारों में लोमहर्षण संग्राम हो रहा था कि जगत्पति महाराज श्रीराम पुष्पक विमान पर चढ़े दंडकारण्य से आ गए। इनका शब्द सुनते ही युद्ध बंद हो गया। सब बड़ी उत्सुकता से महापुरुष राम को देख रहे थे। चंद्रकेतु ने प्रणाम किया, और राम ने उन्हें हृदय से लगाकर युद्ध का वृत्त पूछा। युद्ध में प्रवृत्त होने पर भी लव और चंद्रकेतु का हार्दिक स्नेह-सा हो गया था, एक दूसरे को प्रेमभाव से देखते और आत्मीय-सा मानते थे। अतः चंद्रकेतु ने लव की प्रशंसा की। रामचंद्र ने लव की गंभीर आकृति देख और लव ने श्रीराम के महापुरुष-लक्षण देख

अत्यंत आंतरिक सुख पाया, और जब कुमार को यह ज्ञात हुआ कि यही रामायण के नेता राम हैं, तो बड़े विनय से प्रणाम किया, और युद्ध करने पर क्षमा माँगी। जृंभकास्त्र का प्रभाव भी सैनिकों पर से खींच लिया।

इस समय तक कुमार कुश भी भरताश्रम से लौट आए, और युद्ध-व्यापार सुनकर धनुष टंकारते उसी ओर चले। रामजी ने देखा—

निरखत तृन सम गनत जगत बीरन की करनी;
चलत धीर करि गर्ब नवावत मानहु धरनी।
बाल तऊँ यह गिरि समान गरुआई जनावत;
धरे रूप कै गब बीर-रस कै यह आवत।

लव के कहने से इन्होंने भी विनय-वृत्ति श्रीरामजी को दिखलाई, जिन्होंने इन्हें हृदय से लगाकर पुत्र-आलिंगन का-सा सुख पाया। छाया में निश्चिंत बैठकर श्रीरामजी ने अनुमान किया कि इन दोनों क्षत्रिय-कुमारों में मेरी व जानकी की समता मिलती है। यही वन है, जहाँ देवी सीता छोड़ी गई थीं। परित्याग से पहले ही मुझे संभावना थी कि देवी के दो बालक होंगे। जृंभकास्त्र भी मैंने चित्र देखने के समय सीता के बालकों को दे दिया था। इससे संभव है कि कदाचित् ये मेरी संतान हों।

प्रश्न करने पर कुश ने रामायण के ऐसे-ऐसे श्लोक पढ़े, जिनमें राम और सीता का अगाध प्रेम वर्णित था। इससे

और बालक के उदासीन भाव से प्रत्यक्ष था कि वे या तो सीताजी के पुत्र नहीं थे, या अपना जन्मवृत्त नहीं जानते थे। रामचंद्र फिर पुरानी बातों का स्मरण कर-करके दुखी हो रहे थे। जब उन्होंने जाना कि गुरु वशिष्ठ, अरुंधती, माता कौशल्या और श्वशुर जनक भी इस समय इसी आश्रम में हैं, तो लज्जा से अत्यंत पीड़ित हुए।

अब उस नाटक के खेलने का समय आया, जो भरत मुनि ने अप्सराओं को सिखा दिया था। लक्ष्मणजी के प्रबंध से देवता, दैत्य, मनुष्य, तिर्यग्योनि, स्थावर, जंगम सब बिठाए गए। सूत्रधार ने घोषणा कर दी कि भगवान् वाल्मीकि ने यह नाटक बनाया है। इसमें जितनी कथा है, सब सत्य है। अभिनय होने लगा। यह सीता-विषयक नाटक था, और सीता-जी को वन में छोड़कर लक्ष्मणजी जब अयोध्या लौटे, तब से आरंभ होता था। इसमें देवी सीता का विलाप, गंगानदी में कूदना, पुत्रों की उत्पत्ति, पृथ्वी और गंगाजी का बालकों समेत सीता को पाताल ले जाना, जृंभकास्त्रों का आना, बालकों का वाल्मीकिजी के यहाँ आना आदि कथाएँ थीं। ज्यों-ज्यों अभिनय होता जाता था, त्यों-त्यों लोगों का—विशेषतः श्रीराम-जी का—कुतूहल बढ़ता जाता था। कभी-कभी शोक की असह्य पीड़ा में वह यह भी भूल जाते थे कि यह नाटक है, और अत्यंत व्यग्रचित्त हो जाते थे। उस समय लक्ष्मणजी उन्हें सँभालते थे। जब नाटक में देवी सीता अपनी माता

पृथ्वी के साथ पाताल को चली गईं, तो रामजी को कठिन मोह हो गया। इसके उपरांत गंगाजी की बीच धारा से देवी गंगा और पृथ्वी समेत श्रीजानकीजी प्रकट हुईं। इनके आते ही सब दर्शक हर्षमय हो गए। अरुंधती, शांता, ऋष्यशृंग आदि सब दौड़ पड़े, और सीताजी को लाकर श्रीरामजी के पास बिठा दिया। महारानी सीता ने अपने स्पर्श से फिर जगत्पति को प्रबुद्ध किया। इसी समय गंगा और पृथ्वी देवियों ने कहा कि चित्रदर्शन के समय श्रीरामजी ने सीता की रक्षा का भार हम पर रक्खा था, सो उसे पूरा करके हम अनृण हुईं। देवियाँ सीता की शुद्धि की साक्षी बनीं।

अरुंधती ने घोषणा की कि रानी सीता सर्व संसार को पवित्र करनेवाली और अत्यंत शुद्धचरित्र हैं। इस पर सप्तर्षियों और लोकपालों ने पुष्पवृष्टि की, और सबने सीताजी को प्रणाम किया।

अब वाल्मीकिजी ने लव-कुश को पिता, माता, नाना, चाचा, दादी, गुरु आदि सबका परिचय दिया। सभों ने बालकों को हृदय से लगाया। सीताजी का पुनः मिलाप सबसे हुआ, और दुःख का लेश भी न रह गया। अभी यह हर्ष समाप्त नहीं हुआ था कि लवण राक्षस को मारकर और मथुरापुरी बसाकर शत्रुघ्नजी भी आ गए। सत्य है, समय आने पर मंगल पर मंगल होता जाता है। महर्षि वाल्मीकि

ने यह सब उपकार करके और भी पूछा, जिस पर श्रीमर्यादा-पुरुषोत्तम जगत्पति महाराज राम ने यह भरत-वाक्य पढ़ा—

सकल दुरित हरि मंगलकारिनि मनभावन सुखकारी ;
जगत-जननि अरु देवसरित हम सबहिं लगै यह प्यारी ।
आतम सब्द मरम जे जानत प्राचेतस कवि भारी ;
नाटक रूप प्रकासित रचना लखि बुध होहिं सुखारी ।

मालती-माधव

किसी समय देवरात और भूरिवसु-नामक दो ब्राह्मण-बालक अन्य विद्यार्थियों के साथ कामंदकी योगिनी से विद्या पढ़ते थे। दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम हो गया। जब तक गुरु के पास रहे, उनकी प्रीति में कोई बाधा न पड़ी; परंतु जब विद्या पूर्ण करके भिन्न-भिन्न देशों को जाने लगे, तब इस स्नेह के जीवित रखने के लिये परस्पर संबंध का कोई उपाय सोचना पड़ा। उन्होंने निश्चय किया कि समय आने पर हमारे पुत्र-कन्यारूप संतान का विवाह-संबंध कर दिया जाय। यह वार्ता गुरु और सौदामिनी-नामक एक विद्यार्थिनी के सामने हुई।

देवरात को विदर्भराज के मंत्री का पद मिला, और भूरिवसु को पद्मावती के राजा ने अपना मंत्री बनाया। देवरात के पुत्र हुआ, जिसका नाम था माधव। भूरिवसु के कन्या हुई, जिसका नाम था मालती। माधव और मालती ही इस खेल के नायक और नायिका हैं।

जब माधव सयाने हुए, तो उनके पिता ने उन्हें विद्या पढ़ने के लिये कामंदकी के पास पद्मावती-नगर भेज दिया। यहाँ

पर और भी बहुत-से बालक गुरु के पास विद्या पढ़ते थे; इनमें से मकरंद-नामक एक विद्यार्थी से माधव की बड़ी मित्रता थी। कुछ काल में माधव ने विद्या अच्छी तरह पढ़ ली, और चित्र खींचने आदि कलाओं में भी अच्छा अभ्यास कर लिया। दैहिक व्यायाम, अस्त्र-विद्या आदि में भी निपुणता प्राप्त कर ली।

माधव के शरीर में सुंदरता भी अलौकिक थी। साँवले रंग, और अंगों की उत्तम बनावट को देखकर लोग चकित हो जाते थे। शील-स्वभाव भी महापुरुष का-सा था।

कामंदकी को देवरात और भूरिवसु का पूरा परिचय पहले ही से था, इसीलिये संसार से विरक्त होने पर भी उसका माधव पर विशेष प्रेम था; उसे वह पुत्र की भाँति चाहती थी। भूरिवसु की कन्या मालती को भी वह पुत्री ही के समान मानती थी, और चाहती थी कि किसी प्रकार इन दोनों का विवाह हो जाय।

पद्मावती का राजा भूरिवसु को बहुत मानता था; परंतु उसका एक दूसरा मुँहलगा मंत्री नंदन-नामक था, जिसका और भी अधिक मान था। राजा की इच्छा थी कि इसी नंदन के साथ मालती का विवाह हो; इसलिये उसने एक दिन भूरिवसु से अपना आशय प्रकट किया। भूरिवसु को बड़ा असमंजस पड़ा। उधर उन्होंने देवरात को वचन दे रक्खा था; इधर राजा का वाक्य टालने से सब प्रकार का भय

था। उन्होंने माधव का सुंदर स्वरूप और उत्तम स्वभाव भी देख लिया था, जिससे अन्य कोई वर उनको दृष्टि में नहीं जँचता था। मालती और माधव का गुप्त प्रेम भी मंत्री से गुप्त नहीं था। नंदन न तो बिलकुल युवा था, और न अन्य किसी प्रकार मालती के योग्य था। इसीलिये सोचकर भूरिवसु ने राजा को ऐसा उत्तर दिया कि वह भी संतुष्ट हो गया, और यह वचन-बद्ध न हो सके। इन्होंने कहा कि महाराज को सर्वथा अधिकार है; अपनी कन्या जिसको चाहें, दें।

भूरिवसु ने तो समय किसी प्रकार टाल दिया; पर मालती माधव के विवाह के लिये प्रकट रूप से कोई उपाय न कर सके। इसलिये यह भार कामंदकी पर रखकर स्वयं ऐसे उदासीन रहे, जैसे माधव का नाम भी न जानते हों।

अब कामंदकी की कूट-नीति का आरंभ हुआ। उसकी चेरी अवलोकिता ने ऐसी वैसी बातें बनाकर भूरिवसु के महल के पास सड़क पर बार-बार माधव को भेजने का यत्न किया। यह यत्न सफल हुआ; माधव की अनुपम छवि को देखकर मालती के हृदय में पूरा विकार पैदा हो गया, और उसे क्षण-क्षण विरह कातर करने लगा। इस विकार की अग्नि ऐसी प्रज्वलित हुई कि उसने जी बहलाने के लिये माधव का चित्र उतारा। इस पर सखी-सहेलियों ने सोचा कि यदि यह चित्र माधव के हाथ पड़े, तो उसे मालती की दशा प्रकट हो जाय; इसीलिये उसकी धाय की लड़की लवं-

निका ने वह चित्र मंदारिका को दे दिया, जिस पर माधव का नौकर कलहंस आसक्त था। संभावना थी कि इस प्रकार वह चित्र माधव के पास पहुँच जायगा।

अवलोकिता ने इतने ही पर बस नहीं किया, किंतु जिस दिन मदन-बाग़ में भारी उत्सव था और नगर के नर-नारी-समूह वहाँ जाते थे, उस दिन माधव को भी कह-सुनकर वहाँ ले गई। उधर मालती का आना पहले ही से पक्का हो गया था। इसी बाग़ में मौलसरी के थाल्हे के पास बैठकर माधव उसी वृक्ष के फूलों का गजरा बना रहे थे कि सुंदर उजले कपड़े पहने, गंभीर मूर्तिवाली मालती दृष्टि में पड़ गई। उसकी रूप-संपत्ति देखते ही बनती थी, तथापि ऐसा जान पड़ता था कि वह विरह-व्यथा से क्षीण थी। उसके पहले ही दर्शन से माधव का हृदय अकस्मात् आकर्षित हो गया, और हो क्यों न जाय—

भावी प्रबल जगत महँ होई;
असुभ करै चाहे सुभ सोई।

और भी—

नेह हेतु कछु गूढ़ बिसेखी;
उपजत नाहिं रूप-गुन देखी।
द्रवत चंदमनि चंद प्रकासा;
खिलत कमल रबि उदय अकासा।

मालती ने माधव को दूर से कई बार देखा था; इस

समय निकट देखकर वह अपने आपको न सँभाल सकी; सब सात्त्विक भाव प्रकट हो गए, शरीर स्तब्ध हो गया, पसीना निकल पड़ा, रोंगटे खड़े हो गए, अंग काँपने लगे, गले से स्वर नहीं निकलता था, विवर्णता छा गई, आँसू बह पड़े और सब सुध-बुध भूल गई। कभी टकटकी बाँधकर अपने प्रेमभाजन की ओर देखती थी, और कभी, लज्जा-वश आँखें नीची कर लेती थी।

कुछ समय बीतने पर नौकर-चाकरों के साथ हथिनी पर चढ़कर मालती नगर की ओर चली, परंतु उसकी सखी लवंगिका ने हाथ जोड़कर माधव से फूलों की माला मालती के लिये माँग ली।

मालती आदि के चले जाने पर माधव अकेले ही उसी बाग़ में इधर-उधर मत्त की तरह फिरते थे, पैर ठीक नहीं पड़ते थे और शरीर छविहीन हो रहा था। इसी समय उनके साथी मकरंद आ गए। दोनों में नवीन प्रेम-विषयक बातें होने लगीं। तब तक मालती के हाथ का खींचा हुआ माधव का चित्र लेकर कलहंस नौकर आया। चित्र देखकर दोनों मित्रों को बड़ा हर्ष हुआ, और माधव ने उसी चित्रपट पर मालती का चित्र खींचकर कुछ छंद भी लिख दिए। यह चित्र-पट कलहंस ने मंदारिका से छीन लिया था: इसीलिये वह ढूँढ़ती-ढूँढ़ती इस स्थान तक पहुँची। उसके द्वारा मालती का और भी विशेष वृत्त मालूम हो गया।

मंदारिका ने वह चित्रपट लवंगिका को लौटा दिया। उसके पास माधव के हाथ की गुँथी माला पहले से थी ही; इन्हीं दोनों वस्तुओं से वह मालती का बोध करती थी। चित्र के देखने और छंदों के पढ़ने से माधव का आशय प्रकट होता था। छंद यह थे—

फूल चाँदनी चंद, जग के जिते बिभाव हैं;
औरनि देयँ अनंद, देखे उद्दीपन करें।
मो हित यहि संसार, आज नयनगोचर भई;
तन-मन प्रीति अधार, नयनन के हित कौमुदी।

यहाँ तक तो योगिनी कामंदकी की नीति अत्यंत सफल हुई; अब उन्हें चिंता हुई कि मालती के चित्त से किस प्रकार पिता की श्रद्धा दूर की जाय, जिससे वह स्वयं माधव के साथ विवाह कर ले। यथार्थ में भूरिवसु की उत्कट इच्छा तो यही थी कि मालती का विवाह माधव ही से हो; परंतु राजा के भय से वह प्रकट कुछ नहीं कर सकते थे।

इस समय मालती को माधव के अतिरिक्त कुछ नहीं सूझता था। इसलिये उचित काल जानकर योगिनीजी आईं और मालती के सामने आँसू रोके हुए श्वास लेकर शोक की दशा प्रकट करने लगीं। प्रकरण-वश नंदन का नाम आया, जिसके साथ मालती का विवाह करने के लिये भूरिवसु ने राजा को किसी प्रकार वचन दिया था। इस वार्ता से

मालती को अत्यंत कठिन शोक हुआ। योगिनी और लवंगिका की उत्तेजना से यह शोक और भी असीम होता जाता था। पिता की आज्ञा का उल्लंघन मालती के लिये बहुत कष्टदायक था; परंतु दूसरी ओर नंदन से विवाह करना इससे भी अधिक पीड़ा-जनक था। योगिनीजी ने बातों-बातों में शकुंतला, उर्वशी, वासवदत्ता आदि उत्तम स्त्रियों का नाम छेड़ा, जिन्होंने अपनी ही रुचि और अपने ही प्रेम के अनुसार दुष्यंत, पुरूरवा और उदयन के साथ विवाह कर लिया था। बीच-बीच किसी-न-किसी मिस से माधव का नाम भी आ जाता था, जिसमें उनके उत्तम कुल, उत्तम अवस्था, सुंदर शरीर, मनोहर गुण आदि की सराहना होती थी और मालती पर उनकी आसक्ति का संकेत भी दे दिया जाता था।

इस प्रकार योगिनीजी ने दूती का ऐसा पक्का काम किया कि सिद्धि की आशा हो गई और मालती के मन में यह बात दृढ़ जम गई कि या तो माधव ही से विवाह करूँगी या प्राण दे दूँगी। परंतु पिता के अन्याय का काँटा उसके हृदय में हर समय खटकता रहता था।

योगिनीजी केवल यही एक उद्योग नहीं करती थीं, किंतु साथ-ही-साथ यह भी सोचती थीं कि नंदन की बहन मदयंतिका का विवाह माधव के मित्र मकरंद के साथ करावें। इस काम के लिये उन्होंने बुद्धरक्षिता को दूती-कर्म दिया,

जिसने मकरंद के बारे में सैकड़ों ऐसी-वैसी बातें बनाकर मदयंतिका का मन उधर आकर्षित कर दिया।

इन सब उपायों की सिद्धि के लिये योगिनीजी ने बाग़ में महादेव के मंदिर के पास अशोक-कुंज में माधव को बिठाकर मालती को सिखलाया कि आज कृष्णपक्ष की चतुर्दशी है; अपने हाथ से पुष्प तोड़कर देवता पर चढ़ाओ, तो कार्य-सिद्धि हो। उसी समय मदयंतिका को साथ लेकर बुद्धरक्षिता भी वहीं चली।

शिवालय के पास माधव खड़े-खड़े देख रहे थे कि किस लीला के साथ मालती फूल चुन रही है और मंद पवन, पुष्प, भ्रमर आदि के रसीले वर्णन से किस प्रकार उसे लवंगिका उत्तेजित कर रही है। उस समय माधव के चित्त में प्रेम की जो उमंगें उठती थीं, वह वर्णन में नहीं आ सकतीं। थोड़ी देर में योगिनीजी ने उन कन्याओं को बुलाकर अपने पास बिठाया और बड़े प्रेम से माधव की कथा छेड़ दी। मदन-यात्रा के मेले से उनकी दशा जैसे दीन-हीन हो रही थी और जीवन से घबराकर जैसे वह कठिन-से-कठिन काम करने पर उद्यत थे, वह सब बातें योगिनीजी ने सुनाईं। इधर लवंगिका ने भी सविस्तर मालती की विरह-दशा का वर्णन किया और उसका आँचल उठाकर माधव का चित्र और उन्हीं के हाथ की गूँथी माला दिखलाई।

इतनी ही कथा होने पाई थी कि एक सिंह पिंजड़ा तोड़-

कर भाग निकला और देखते-देखते बहुत-से मनुष्य, घोड़े और बैल मार गिराए। वह पूँछ फटकारता, और मुँह फैलाए हुए इधर-उधर कूद रहा था; चारों ओर से महान् कलकल-शब्द हो रहा था। उधर से मदयंतिका को देखकर दुष्ट जंतु उस पर झपटा; लोग हाहाकार करने लगे; सब चेरियाँ इधर-उधर भागीं और बेचारी कन्या का बचानेवाला कोई न निकला। सिंह उसके निकट ही पहुँच गया था कि तलवार लेकर एक युवा पुरुष बीच में कूद पड़ा और सिंह को मारकर मदयंतिका के प्राण बचा लिए। उसे भी सिंह की एक चपेट लग गई, जिससे धार-धार करके रक्त बहता था। यह पुरुष माधव का साथी मकरंद था।

भय-जनक कलकल-शब्द सुनकर माधव भी उसी ओर दौड़े और अपने मित्र मकरंद को सिंह के सामने देख झपटे; परंतु जब तक यह पहुँचे, तब तक मकरंद ने अपना काम पूरा कर लिया। सिंह की चोट से अब मकरंद को मूर्च्छा आ गई और मित्र के दुःख से माधव भी मूर्च्छित हो गए। योगिनीजी ने आकर दोनों पर कमंडलु से जल डाला और सखियों ने अंचलों से वायु पहुँचाई। मदयंतिका के सँभालने से मकरंद को चेतना हुई; मालती के कर-स्पर्श से माधव भी जागे। दोनों मित्र गले लगकर मिले। मदयंतिका और मकरंद की चार आँखें हुईं; मदयंतिका प्रेम में फँस गई।

इस समय एक पुरुष ने ख़बर दी कि मालती और नंदन का विवाह होनेवाला है; इसलिये नंदन ने अपनी बहन मद-यंतिका को बुला भेजा है कि विवाह का उत्सव मनावे। इस पर मदयंतिका को बड़ा हर्ष हुआ कि अब मालती के साथ एक ही घर में रहना होगा। माधव और मालती इस ख़बर को सुनकर दुःख और निराशा के सागर में डूबने लगे; दोनों के जी गाढ़े में पड़े। इस पर भी योगिनीजी ने दोनों को कुछ ढाढ़स दिया।

जब प्रत्यक्ष में आशा का कोई लेश भी नहीं दिखलाई देता, तो बड़े लोगों का समझाना-बुझाना भी झूठा ही-सा लगता है। इसीलिये योगिनीजी के ढाढ़स देने पर भी माधव को कुछ बोध न हुआ। उन्होंने निश्चय कर लिया कि बिना मालती के जीवन निष्फल है, इसलिये श्मशान में जाकर महामांस बेचना चाहिए; कदाचित् उसी से कुछ सिद्धि हो।

श्मशान का दृश्य बड़ा घोर और भीषण था; स्थान-स्थान पर चिताएँ जलती थीं; भूत, प्रेत, बैताल बड़े विकट रूप में घूमते थे; शृगाल, घुघुवा, चीलें, कौए चारों ओर भरे थे; उग्र दुर्गंध आती थी; हड्डी, खाल, मेदा, आँतें इधर-उधर पड़ी थीं; कभी-कभी पिशाचों के लड़ने से भयंकर शब्द भी हो उठता था। ऐसे उग्र स्थान पर अँधेरी रात में एक हाथ में खड्ग दूसरे में महामांस का टुकड़ा लिए माधव घूमते थे और डाइन-पिशाचों को पुकारते थे; परंतु इनकी कौन सुनता

था। वे अपने-अपने काम में मग्न थे और साहसी जीवित मनुष्य का बोल सुनकर दूसरे स्थान को चले जाते थे।

श्मशान के समीप ही नदी के तट पर कराला-नामक भगवती का मंदिर था। यह एक सिद्ध स्थान था, जहाँ बड़े-बड़े तांत्रिक आकर अपनी विद्या सिद्ध करते थे। इस समय भी एक घोर मनुष्य अघोरघंट-नामक वहाँ कोई पुरश्चरण कर रहा था; उसके साथ कपालकुंडला-नामक एक चेली थी, जो पूजा का बाहरी आडंबर इकट्ठा करती थी। इस निर्दयी साधक ने मान रक्खा था कि भगवती के प्रसन्न करने के लिये एक सुंदर युवती स्त्री का बलिदान करूँगा। इसी रात को बलिदान करने का समय था; इसलिये कपालकुंडला ने नगर में जाकर सुंदरांगी स्त्री की खोज प्रारंभ की और सुंदरता में मालती के समान अन्य को न पाकर उसे सोती ही उठा लाई। बलिदान का समय निकट आता जाता था; इसलिये कपालकुंडला ने मालती को लाल कपड़े और लाल फूलों की माला पहनाकर बाँध दिया और कहा कि कोई तेरा गाढ़ा प्यारा हो, उसे स्मरण कर ले; क्षण-मात्र में तू देवी को भेंट हो जायगी।

निरुपाय अबला ने पुकारकर कहा—"प्यारे माधव! मृत्यु के पश्चात् भी मैं स्मरण-योग्य हूँ। प्यारा जिसकी सुध करे, वह मृतक नहीं।"

माधव ने बोली पहचानी, और विस्मय तथा शोक के साथ
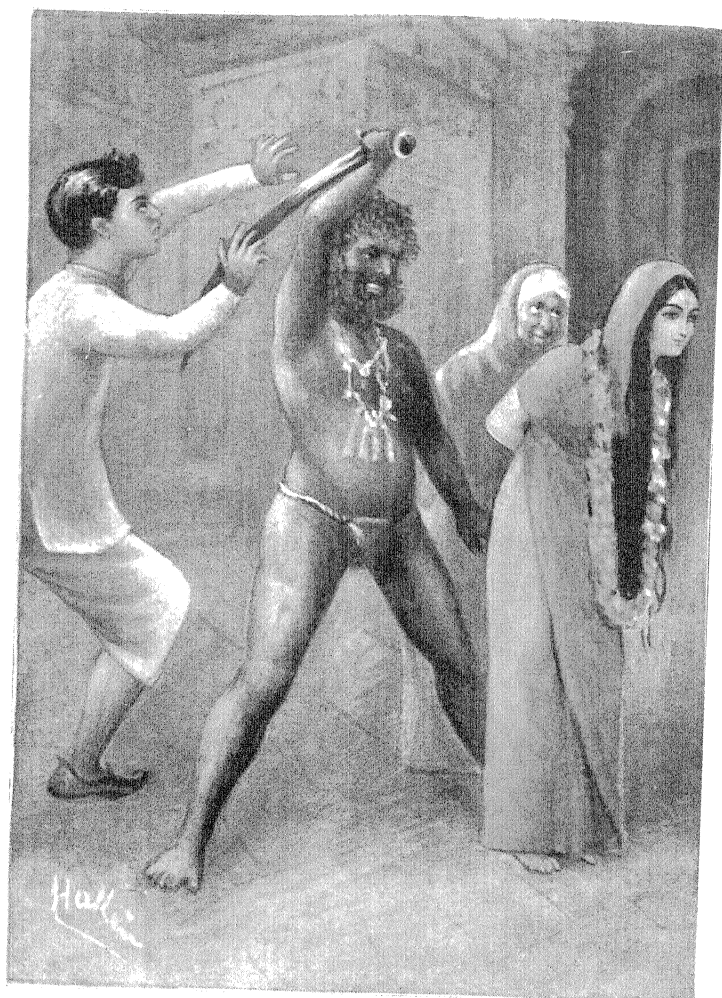
माधव ने फुर्ती से आकर उसे ढकेल दिया और मालती को खींचकर अलग कर दिया।

(पृष्ठ ११२)

Ganga Fine Art Press, Lucknow.

जाकर देखा कि मालती बँधी खड़ी है। अघोरघंट ने खड्ग उठाकर विनय की—

जय! जय! कालि करालि! जय!, बिनवौं मन सों तोहिँ ;
ग्रहण करौ यह भेंट अब, मंत्र-सिद्धि दे मोहिँ।

वह साधक इस दुखिया स्त्री पर खड्ग-प्रहार करना ही चाहता था कि माधव ने फुर्ती से आकर उसे ढकेल दिया और मालती को खींचकर अलग कर दिया। इस पर साधक और माधव में कठोर वाग्युद्ध होने लगा। दोनों एक दूसरे को मारना चाहते थे।

वहाँ जब मालती खो गई, तो उसकी खोज होने लगी। भूरिवसु ने आज्ञा दी कि कराला देवी का मंदिर घेर लो। बहुत-से सिपाही उसी ओर आ रहे थे, इसलिये माधव ने मालती को उन्हें सौंपकर फिर उस दुष्ट से लड़ने का विचार किया। द्वंद्व-युद्ध हुआ, जिसमें उस निर्दयी की बोटी-बोटी काट डाली गई। उसकी चेली कपालकुंडला ने प्रतिज्ञा की कि माधव से पूरा बदला लेकर गुरु का ऋण चुकाऊँगी।

इस दुःख से छूटने पर मालती का विवाह रचा गया। बड़ी धूमधाम मची। हाथी-घोड़ों के झुंड-के-झुंड, आभूषणों से लदे, सड़कों पर चल रहे थे। आनंद का कलकल-शब्द दिशाओं में गूँज उठा था ; सैकड़ों नौकर-चाकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहने अपने काम में लगे हुए थे। परंतु मालती

और माधव को सब शून्य लगता था। कामंदकी योगिनी ने अब अपना अंतिम ज़ोर मारा; माधव और मकरंद को देव-मंदिर में छिपा दिया, और मालती को, उसकी माता की सम्मति से, देवतों के दर्शन कराने ले गईं। इधर जिस समय मालती उस देव-मंदिर के पास पहुँची, जहाँ माधव छिपे थे, उसी समय राजा ने विवाह-योग्य वस्त्र मालती के लिये भेजे। योगिनी ने लवंगिका से कहा कि तुम मंदिर के भीतर मालती को वस्त्र पहनाओ और स्वयं किसी बहाने से बाहर रह गईं।

लवंगिका ने मालती को वस्त्र पहनाना चाहा; परंतु उसने स्वीकार न किया, और हाथ जोड़कर कहा कि यदि तुम मेरे ऊपर सच्चा प्रेम रखती हो और मुझे नरक-रूप नंदन के विवाह से बचाना चाहती हो, तो मुझे एक बार माधव का मुखारविंद दिखा दो; इसके पीछे उन्हीं का स्मरण करके जीवन-त्याग कर दूँगी। ऐसा कहकर ज्यों ही उसने लवंगिका के पैरों पर मस्तक रक्खा, त्यों ही लवंगिका ने माधव से इशारा किया। माधव तुरंत ही कूदकर लवंगिका के स्थान पर बैठ गए। मालती ने उठकर माधव को लवंगिका जानकर गाढ़ आलिंगन कर लिया और वही पुरानी फूलों की माला अपने गले से उतारकर उनके गले में डालनी चाही। माधव का मुख देख झझक गई और अलग जाकर बैठी। माधव ने प्रेम-भरी बातें और अपनी विरह-दशा सुनाई। अब भी पिता की आज्ञा का उल्लं-

वन मालती को असह्य था। उसी समय योगिनीजी ने आकर दोनों को समझा दिया और विवाह पक्का कर दिया।

अब नंदन का विवाह क्योंकर हो? योगिनीजी ने मकरंद को मालती का जोड़ा पहनाकर और पूरा स्त्री-वेष बनाकर नंदन के पास भेजा, और मालती माधव को फुलवाड़ी में रक्खा, जहाँ विधि-पूर्वक उनका विवाह हुआ।

नंदन का विवाह मालती-रूप मकरंद से हो गया। नंदन नई दुलहिन की चाह में उसके पास गए; उसे समझाया-बुझाया, पैरों भी पड़े; इस पर भी बनी दुलहिन ने न माना, तो बरजोरी करने लगे। मकरंद ने यह अवसर पाकर उसे भरपूर मारा, यहाँ तक कि उसकी आँखों से आँसू निकल आए। क्रोधित होकर और दो-चार उलटी-सीधी बातें कहकर वह कमरे से चला गया। मकरंद भी समय पाकर वहाँ से चंपत हुए और उसी मालती-वेष में आकर लेट रहे।

नंदन के अपमान का हाल सबको विदित हो गया, जिस पर उलाहना देने के लिये बुद्धरक्षिता के साथ मदयंतिका आई। उसका उलाहना तो बीच ही रहा, लवंगिका ने उसे पहले ही आड़े-हाथों लिया। थोड़ी ही देर में नंदन के अपमान की वार्ता समाप्त कर दी गई और दूसरा प्रकरण आरंभ हुआ। लवंगिका ने मकरंद की बात चलाई, जिस पर मदयंतिका आसक्त हो चुकी थी। उन्होंने अपने ऊपर घाव लेकर उसे सिंह से बचाया था, इसलिये और भी अधिक उनका मान था। लवंगिका ने

बातों-ही-बातों में मदयंतिका का मन टटोल लिया और उसी के मुँह से कहला लिया कि वह मनसा-वाचा-कर्मणा मकरंद को अपना पति बनाना चाहती है।

ऐसा अनुकूल समय पाकर मकरंद शय्या से कूद पड़े और मदयंतिका का हाथ पकड़कर प्रेमवार्ता करने लगे। सब लोग उठकर उसी फुलवाड़ी को चले, जहाँ मालती-माधव थे, परंतु सकुशल वहाँ तक न पहुँच सके। नंदन को मारने और बलात् मदयंतिका को अपना लेने का दोष मकरंद पर लगा दिया गया; इसलिये सिपाहियों ने उन्हें मार्ग ही में पकड़ लिया। कलहंस को आते देख मकरंद ने उसके साथ स्त्रियों को भेज दिया और स्वयं सिपाहियों से लड़ाई ठान दी।

फुलवाड़ी में प्रथम ही से मकरंद और मदयंतिका की प्रतीक्षा हो रही थी; मालती भी विना लवंगिका के घबराती थी। विलंब देखकर माधव ने कलहंस को हाल लेने के लिये भेजा। कुछ देर में कलहंस उन स्त्रियों को साथ लेकर आया; उसके द्वारा मकरंद के पकड़े जाने का वृत्त भी मिला। मित्र पर विपत्ति देखकर माधव से न रहा गया; वह तत्क्षण कलहंस के साथ चले। जब कुछ देर हुई, तो मालती का चित्त घबरा उठा। उसने अवलोकिता व बुद्धरक्षिता को योगिनी के पास और लवंगिका को माधव के पास दौड़ाया कि जाकर दोनों कुमारों का हाल लावे। फुलवाड़ी में केवल मालती और

मदयंतिका रह गईं। मालती फाटक के पास आकर राह देखने लगी।

सड़क पर मकरंद और माधव को सिपाहियों से पूरा युद्ध करना पड़ा। राजा ने यह सुनकर कि दोनों मंत्रियों की लड़कियाँ घर से निकल गईं, सैकड़ों सिपाही भेजे कि दोनों कुमारों को पकड़ लावें, और स्वयं भी महल की छत पर से सब लीला देखते रहे। लड़ाई में कुमारों ने बड़ा साहस किया—

भुजा प्रचंड प्रहार हाड़ सकन के तोरे;
सकन के हथियार झपटि हाथन सों छोरे।
काटत मुंड कबंध राह सारो छिटकावत;
फारत सैनिक पाँति सौंह सन मारि हटावत।
तरवारि घुमावत हाथ मह , लहर सरिस सैनिक दलत;
वर युद्ध वायुवश सिंधु सम, रह्यो नित्य आगे चलत।

सिपाही तले-ऊपर गिरते-पड़ते ऐसे भागे कि क्षण-मात्र में सड़क ख़ाली हो गई। तब दोनों कुमार राजा के सामने गए, जिन्होंने उनका स्वरूप देख और नाम व कुल जानकर बड़ा हर्ष प्रकट किया और दोनों का अपराध क्षमा कर दिया।

राजा की गुण-ग्राहकता की प्रशंसा करते दोनों कुमार फुलवाड़ी पहुँचे। यहाँ और ही रंग था; मालती का पता नहीं! लवंगिका और मदयंतिका उसे इधर-उधर ढूँढ़ रही थीं। यह हाल देखकर माधव निर्जीव-से हो गए; कभी इधर देखते,

कभी उधर पुकारते, बीच-बीच स्त्रियों से पूछते, मकरंद से निराशामय बातें करते थे। यहाँ से चलकर योगिनीजी के यहाँ भी खोज की गई: पर मालती कहाँ? उसे तो कपाल-कुंडला उठा ले गई। अघोरघंट की इस दुष्टा चेली ने प्रतिज्ञा की थी कि माधव से गुरू के वध का बदला लूँगी: अवसर पाकर मालती को श्रीपर्वत पर उड़ा ले गई।

मालती को न पाकर माधव उन्मत्त हो गए और विंध्याचल की एक घाटी में घूमने लगे। सच्चे साथी मकरंद ने साथ न छोड़ा। निर्जन वन में दोनों घूम रहे थे: माधव के हृदय में मालती के अतिरिक्त अन्य कोई भावना नहीं। उसी का नाम, उसी के गुण, उसी की प्रीति, कह-कहकर विलाप करते थे। मूर्च्छित हो जाते थे; फिर मकरंद के उद्योग से सचेत होते थे। कभी बादलों से, कभी बिजली से, कभी वृक्षों से, कभी पर्वतों से, नदियों से, कोयलों से हाथियों आदि अन्य वनवासी जीवों से मालती का हाल पूछते थे। उन्हें दुःख की भावना में यही प्रतीत होता था कि यह सब चेतन और अचेतन-पदार्थ उनका अपमान करते हैं और मालती का पता नहीं बतलाते। पूछते-पूछते थक जाते थे, तो अपनी याचक-दशा पर स्वयं ही धिक्कार करते थे। उनको यह भी ज्ञान नहीं था कि मकरंद भी साथ हैं।

माधव की ऐसी दीन दशा देखकर मकरंद यथा-शक्ति उनका समाश्वासन करते थे। घन-घटाओं की शोभा, वन की

संपत्ति पर्वतों की रमणीयता, जंगली जीवों का स्वच्छंद विहार दिखा-दिखाकर मित्र का दुःख कम करना चाहते थे ; परंतु इन बातों का उलटा प्रभाव पड़ता था। माधव की उन्मत्तता और बढ़ती जाती थी। कभी-कभी ऐसा मोह हो जाता था कि फिर सचेत होने की आशा नहीं रहती थी। यह दशा देख मकरंद की भी हिम्मत टूट गई। उन्होंने समझ लिया कि अब मित्र का जीवन नहीं बच सकता। अब वह भी गहरे शोक में पड़कर "किंकर्तव्य-विमूढ़" हो गए। कभी योगिनीजी को पुकारते, कभी रोते, कभी मूर्च्छित हो जाते और कभी अपने कर्म का दोष देते थे। निदान कुछ उपाय न देखकर मकरंद ने निश्चय कर लिया कि बिना मित्र के इस संसार में रहना भी व्यर्थ है ; और मित्र की मृत्यु देखकर फिर अपने प्राण त्यागना भी भीरुता है—

जनम घरी सों आज लों, सदा रहे इकसंग ;
बालपने दूधहु पियो, साथहि मातु उछंग।
देइँ तिलांजलि नीर अब, तुम कहँ कुल के लोग ;
पियो अकेले ताहि तुम, यह तुम कहँ नहिँ जोग।

यह सोच-समझकर मकरंद एक चोटी पर चढ़ गए, जिसके ठीक नीचे पाटलावती-नदी बहती थी। महादेव का स्मरण कर, और दूसरे जन्म में माधव के साथ उत्पन्न होने का वर माँगकर चोटी पर से कूदना ही चाहते थे कि शीघ्र ही आकर एक स्त्री ने इन्हें पकड़ लिया और माधव के हाथ की

गुँथी वही मौलसिरी के फूलों की माला दिखाई, जिससे मालती के जीवित रहने की प्रतीति हो जाय।

यह स्त्री योगिनी कामंदकी की प्रथम चेली सौदामिनी थी, जो मंत्रसिद्धि के लिये श्रीपर्वत चली गई थी। जब कपालकुंडला ने मालती को श्रीपर्वत पर बाँधकर मारने की इच्छा की, तो इसने उसे पहचाना और उस दुष्टा कपाल-कुंडला को बुरा-भला कहकर मालती को उसके पंजे से छुड़ा लिया, और अपने घर में रक्खा। इसे निश्चय था कि मालती के विरह में माधव कुछ अनर्थ कर डालेंगे। इसीलिये यह चिह्न-रूप माला लेकर माधव को ढूँढते ढूँढते यहाँ पहुँची थी।

शीतल पवन के लगने से माधव की भी मूर्च्छा जगी। उन्होंने हाथ जोड़कर पवनदेवता से विनय की कि हे विश्वाधार देव! मेरे प्राण अपने में मिलाकर मालती के पास ले चलो। फैलाए हुए हाथों में सौदामिनी ने माला डाल दी, जिसे देखकर माधव को बड़ा विस्मय हुआ। मकरंद ने सौदामिनी को माधव के सामने कर दिया। इस कृपालु योगिनी ने मालती का सब वृत्त बताया और अपने योग-बल से माधव को श्रीपर्वत-पर उड़ा ले गई।

अब स्त्रियों का हाल सुनिए—कामंदकी, लवंगिका, और मदयंतिका अत्यंत दुःखित होकर इधर-उधर दौड़ती थीं; मालती के न मिलने पर विलाप करती थीं; उसके पूर्व गुणों

का स्मरण कर-करके हाथ-पैर पटकती थीं। उन्होंने भी संकल्प कर लिया कि प्राणरूप मालती के न रहने पर जीना वृथा है ; इसलिये पर्वत की शिखा से मधुमती-नदी के सोते में कूद पड़ना चाहिए। यह सब गिरना ही चाहती थीं कि मकरंद हर्ष और विस्मय से सौदामिनी की अद्भुत महिमा की प्रशंसा करते हुए आ गए। उनसे मालती का कुशल-वृत्त जानकर सबके जी में जी आया।

उधर अमात्य भूरिवसु ने अपनी कन्या का लोप सुनकर सब राजकाज छोड़दिया और अग्नि में कूद पड़ने की ठान ली। वह भी अनर्थ करने के समीप ही थे कि मालती को सँभाले हुए माधव पहुँच गए। मार्ग ही में मालती ने सुना कि अमात्य भूरिवसु अग्नि में कूदने जा रहे हैं, इसलिये शोक से व्याकुल होकर वह अचेत हो गई। यहाँ पहुँचने पर कामंदकी और लवंगिका भी मालती की यह दशा देखकर मूर्च्छित हो गईं। कुछ देर में सबकी मूर्च्छा दूर हुई। एक दूसरे से हर्ष के साथ सब मिले।

सौदामिनी ने देखा कि यदि वह स्वयं भूरिवसु के पास न पहुँचेगी, तो राजा और प्रजाओं के समझाने पर भी वह अनर्थ कर डालेंगे ; इसीलिये मालती और माधव को मार्ग ही में छोड़कर वह भूरिवसु की ओर चली और उन्हें साहस करने से रोका। यहाँ उस नई योगिनी का हाल सुनकर सबको उसके देखने की उत्सुकता थी, इसीलिये उसके आने पर

सब लोग स्वागत के लिये उठ दौड़े। आते ही उसने कामंदकी को प्रणाम किया, जिसने अपनी पुरानी चेली को पहचान-कर हृदय से लगाया। सब लोग सौदामिनी को देखकर और उसके अकारण पक्षपात पर विचार करके धन्यवाद देने लगे—

चिंतामणि हूँ करत नहिँ, बिन चिंता कछु काज;
ध्यानहु रह्यो न जासु को, किय अचरज इन आज।

सौदामिनी ने एक और भी उपकार किया। उसने एक पत्र दिखाया, जिसमें राजा ने भूरिवसु के सामने माधव को यह लिखा था कि तुम-सा वीर पुरुष पाकर हमें हर्ष है, तुमको जो दुःख मिला, उसका हमें शोक है। तुमसे प्रसन्न होकर मदयंतिका का विवाह तुम्हारे मित्र मकरंद के साथ हम स्वीकार करते हैं। अब कामंदकी योगिनी की नीति सफल हुई। सबके मनोरथ पूर्ण हुए। अवलोकिता, बुद्धरक्षिता और कलहंस भी हर्ष से नाचते-गाते आ गए। सबके सामने सौदामिनी ने साक्षी दी कि देवरात और भूरिवसु ने अपने बच्चों के विवाह करने का वादा किया था। इस समय कामंदकी ने भी अपना भेद खोला कि अपने पूर्व शिष्यों की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिये और योग्य को योग्य के साथ मिलाने के लिये यह कूट-नीति की है। यदि प्रथम ही से सब बात स्फुट कर दी जाती, तो नंदन और भूरिवसु से बिगाड़ हो जाता, और राजा का क्रोध भी कदाचित् प्रज्वलित हो उठता।

इस सिद्धि-प्राप्ति पर भी योगिनी कामंदकी ने हृदय से यह आशीर्वाद दिया—

सुकृती सब सज्जन होयँ सदा, हरि पाप के मूल को नास करैं;
निज धर्म औ नीति समेत नरेस, निरंतर राज-बिलास करैं;
प्रति वर्ष समै पर नीरद बृष्टि सों, भूमि भरी चहुँ पास करैं;
धन, पुत्र औ बंधु समेत प्रजा, यहि भूप के देस निबास करैं।

रत्नावली

वत्स-देश के राजा, जिनका नाम उदयन था, और जिनकी राजधानी कौशांबी-नगरी थी, बड़े प्रतापशाली महाराज थे। इन्होंने अपने सब शत्रुओं को जीतकर अपने वश कर लिया था, और सहस्रों राजा इनके पाद-पद्मों की सेवा करते थे। पुरवासी जन भी समस्त ईति-भीतियों से रहित और धन-धान्य तथा सुख-सामग्री से भरे-पुरे थे। राजा का विशेष ध्यान अपनी प्रजा के पालन-पोषण की ओर था और सब लोग हर-एक उत्सव के समय में अत्यंत हर्ष व आनंद मनाते थे।

राजा उदयन की धर्मपत्नी वासवदत्ता उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की लड़की थीं, और यद्यपि उदयन से अत्यंत स्नेह रखती थीं, तथापि उनमें मानभाव अधिक था। यदि स्वप्न में भी कहीं जानें कि राजा की दृष्टि किसी दूसरी स्त्री पर पड़ी है, तो इतना रूठती थीं कि मनाना अति कठिन हो जाता था। उधर राजा उदयन स्वभाव में धीर-ललित थे, अर्थात् रानी वासवदत्ता को नित्य प्रसन्न रखना चाहते थे। यदि किसी दूसरी स्त्री से प्रेम हो जाता था, तो उसे अतीव गुप्त रखकर

केवल बाह्य दृष्टि से रानी पर अपना स्नेह प्रदर्शित करते थे। वह राज्य का संपूर्ण भार अपने योग्य अमात्य यौगंधरायण पर छोड़कर विषय-सुख में मग्न रहा करते थे।

यह तो नायक का वृत्त हुआ। अब नायिका का वृत्तांत सुनिए, जो कि सिंहलद्वीप के राजा विक्रमबाहु की लड़की थी। यह रूप में प्रशस्ता तथा स्वभाव में अनिंदनीया थी। इसकी छोटी ही अवस्था में एक सिद्ध ने इसे देखकर भविष्य-द्वाणी की थी कि जिस किसी का विवाह इस कन्या के साथ होगा, वह पुरुष सार्वभौम राजा होगा। इस सिद्ध-वाक्य का समाचार अमात्य यौगंधरायण को मिला, तो उस सच्चे स्वामिभक्त की आकांक्षा हुई कि ऐसा रत्न मेरे स्वामी वत्स-देशाधिपति को मिले। उन्होंने सिंहलेश्वर से कहा कि अपनी पुत्री रत्नावली का विवाह वत्सराज से कर दीजिए। परंतु सिंहलेश्वर वासवदत्ता के मातुल थे और यह सोचते थे कि दोनों बहनों अर्थात् वासवदत्ता और रत्नावली में सपत्नीभाव होना योग्य नहीं है। इसी कारण उन्होंने यौगंधरायण की विनय को अस्वीकार किया। यौगंधरायण ने अपना मनोरथ निष्फल होते देखकर कूटनीति का व्यवहार किया और बाभ्रव्य (कंचुकी) के द्वारा सिंहलेश्वर के पास कहला भेजा कि रानी वासवदत्ता अग्नि में जलकर मर गईं। यह नीति सफल हुई और सिंहलेश्वर के प्रधान अमात्य वसुभूति रत्नावली को लेकर कंचुकी बाभ्रव्य के साथ वत्स-देश को चले। परंतु समुद्र में

जलयान के भग्न हो जाने पर वे लोग रत्नावली से पृथक् हो गए। येन-केन प्रकारेण नौका के टूटे-फूटे फलकों और काष्ठ-खंडों के सहारे वे लोग किनारे पहुँचे।

बाभ्रव्य और वसुभूति वत्स-देश को जा रहे थे। मार्ग में वत्सराज के सेनापति रुमण्वत् अपनी सेना-सहित उनको मिले। यह सेना दक्षिण-कोशलराज को जीतने के अर्थ वहाँ भेजी गई थी, और कुछ दिनों के पश्चात् अपना कार्य पूर्ण करके वत्स-देश को लौट रही थी।

उधर रत्नावली भी एक फलक के अवलंब से किनारे पहुँची और अनाथ, रोती हुई इधर-उधर फिरती थी कि कौशांबीपुरी के एक वैश्य ने उसके गले में वह रत्नों का हार देखकर, जो उसने सिंहलेश्वर के हाथ बेचा था, उसे पहचाना और वह रक्षा-पूर्वक उसे वत्सराज की राजधानी कौशांबी में ले आया।

अब तो अमात्य यौगंधरायण ने विचारा, यदि रत्नावली रानी वासवदत्ता की परिचर्या में नियुक्त कर दी जाय, तो किसी समय राजा उदयन की दृष्टि अवश्य उस पर पड़ेगी; और जब वह इस के रूप पर मोहित हो जायँगे, तो अवश्य कोई उपाय दोनों के संयोग का निकल आवेगा। विचार-शील अमात्य ने ऐसा ही किया। परंतु रत्नावली का नाम बदलकर सागरिका रक्खा; क्योंकि सागर में नौका-भंग होने के कारण वह कौशांबीपुरी को आई थी।

इस प्रकार रानी की सेवा में नियत होकर सागरिका तन-मन से अपना कर्तव्य करने लगी और रानी भी उसे अपने प्राणों से अधिक मानती थीं। परंतु स्त्रियों के स्वभावानुसार रानी इस बात का पक्का प्रबंध रखती थीं कि किसी प्रकार वह राजा के दृष्टिगोचर न हो।

एक अवसर पर जब कि संपूर्ण पुरवासी जन अत्यंत हर्ष के साथ मदन-महोत्सव मना रहे थे, मृदंगादि वाद्यों के साथ चर्चरी-ध्वनि गाते थे। केसर तथा कस्तूरिकादि सुगंध द्रव्यों से संपूर्ण मार्गों में कीचड़ हो रही थी और नर-नारीगण आनंद से फूले नहीं समाते थे, उसी समय महाराज उदयन विदूषक वसंतक के साथ अपने प्रासाद-शिखर पर बैठे हुए यह सुंदर दृश्य देखते थे। इतने में विदूषक ने देखा, रानी वासवदत्ता की दो चेटियाँ—मदनिका और चूतलतिका—द्विपदी गाती हुई उसी ओर आ रही हैं। राजा की आज्ञा लेकर विदूषक उनके समीप गया और उनसे कुछ हास्य करके फिर लौट आया। थोड़ी देर पीछे वह दोनों परिचारिकाएँ भी राजा के समीप आईं और 'जयतु भर्ता' का उच्चारण करके रानी का यह संदेश कहा—"आज मकरंदोद्यान में रक्त अशोक-वृक्ष के तले कामदेव का पूजन होगा। इसलिये आप भी पधारें।" यह सुनकर राजा और विदूषक उस उद्यान को गए और वहाँ की रम्यता, वसंत-ऋतु का प्रभाव, मलय-मारुत का त्रिविधत्व, भ्रमरों का झंकार आदि वर्णन करते हुए देवी वासवदत्ता की

प्रतीक्षा करने लगे। इससे कुछ ही पश्चात् रानी, उनकी प्रधान परिचारिका कांचनमाला, तथा अन्य स्त्रियाँ आईं। ज्यों ही रानी पूजन का उद्योग करने लगीं, उनकी दृष्टि सागरिका पर पड़ी, जो पूजन की सामग्री हाथ में लिए खड़ी थी। उसके राजा के दृष्टि-गोचर होने के भय से रानी ने कहा—"सागरिके, तुम सारिका को घर में अकेली छोड़कर यहाँ क्यों चली आई हो? यह सब सामग्री कांचनमाला को देकर शीघ्र घर लौट जाओ।"

स्वामिनी का वचन मानकर सागरिका थोड़ी दूर गई और सोचने लगी कि मैंने सारिका सुसंगता को सौंप दी है और मुझे यह देखने की अत्यंत उत्कंठा है कि यहाँ और सिंहल-द्वीप में एक ही प्रकार का पूजन होता है अथवा भिन्न रीति से। यह सोचकर वह वृक्षों की आड़ में पुष्प तोड़ने लगी।

पूजा का समय आया और देवी वासवदत्ता ने अनंग की अर्चा करके महाराज उदयन का उचित सत्कार किया। उधर वृक्षों की ओट से सागरिका ने राजा को देखा, तो वह समझी कि कामदेव ही द्वितीय शरीर धारण करके आ गए हैं। उसने भी पुष्पांजलि से पूजा तथा स्तुति की। परंतु जब स्तुति-पाठक और वैतालिक राजा की स्तुति करके चंद्रोदय की सूचना देने लगे, तब सागरिका का भ्रम दूर हुआ। रानी को घर गई हुई जानकर सागरिका भी शीघ्रता के साथ वहाँ से भागी; परंतु मदनबाधा से पीड़ित होकर वह अपनेको न

सँभाल सकी और चित्रपट तथा अन्य उपकरण लेकर कदली-वन के एक भाग में बैठकर अत्यंत शोक तथा विरह-दुःख करने लगी। इस बात से उसे और भी अधिक पीड़ा थी कि राजा का समागम एक परिचारिका के साथ, विशेषतः एक अज्ञात-कुलशीला स्त्री के साथ, स्वप्न में भी नहीं हो सकता था। इस पर भी रानी वासवदत्ता ऐसे समागम के विरुद्ध थीं। ज्यों-ज्यों वह अपने हृदय का समाश्वासन करती थी, त्यों-त्यों कामाग्नि और भी उद्दीपित होती थी। अंत में उसने वत्स-राज का चित्र खींचना आरंभ किया।

इधर जब सागरिका गृह में न पहुँची, तो सुसंगता सारिका का पिंजड़ा लेकर उसे ढूँढ़ने निकली और कदली-वन में देखकर चुपके से उसके पीछे खड़ी हो गई। अश्रु-आगमन से चित्रलेख में विघ्न पड़ता था। इसलिये सागरिका मुख ऊपर उठाकर अश्रु-मार्जन करने लगी। इतने में पीछे सुसंगता को देखकर चित्रपट को वस्त्र से छिपा लिया; परंतु उसके कहने पर चित्र दिखाया और कहा कि यह कामदेव का चित्र है। सुसंगता भी चतुरा थी, उसने उसी पट पर सागरिका का चित्र खींचकर कहा कि यह रति का स्वरूप है। दोनों में पर-स्पर वार्तालाप होता रहा।

जब सुसंगता ने देखा कि प्रिय सखी सागरिका मदन-ज्वाला से दग्ध हो रही है, तो उसने निकट के सरोवर से कमलिनी लाकर शय्या बनाई। परंतु उसका संताप इससे भी

दूर न हुआ। इसी अवसर पर एक वानर अश्वशाला से छूट-कर बड़ा उत्पात करने लगा, और उसके भय से वे दोनों स्त्रियाँ वृक्ष के कुंज में जा घुसीं। वानर ने पंजर का द्वार खोल दिया, जिससे मेधाविनी सारिका उड़कर बाहर चली गई।

उधर राजा का वृत्तांत सुनिए—खंडदास-नामक एक धार्मिक ने श्रीपर्वत से आकर राजा को एक ऐसी विद्या सिखाई, जिससे अकाल में भी वृक्ष में कलिकोद्गम हो। राजा ने उसके वचनानुसार नवमालिका में कोरकोद्गम कराया और रानी को भी उसके देखने के लिये बुला भेजा। राजा और विदूषक कदली-वन को जा रहे थे कि सारिका का बोल सुना। जो कुछ वार्ता सुसंगता और सारिका से चित्र तथा मदनावस्था के विषय में हुई थी, वह सब सारिका ने कह सुनाई। पहले तो राजा कुछ भी न समझे, परंतु जब वह चित्रफल का विदूषक को मिला, तो अपनी तथा उस अपूर्व स्त्री का चित्र देखकर उन्हें अत्यंत प्रसन्नता हुई।

ढूँढ़ने पर भी सारिका को न पाकर वे दोनों स्त्रियाँ चित्र-फलक के लिये लौटीं, तो उनको ज्ञात हुआ कि राजा कदली-वन में बैठे हैं। वृक्ष की ओट से राजा तथा विदूषक का विश्रं-भालाप सुनकर और अपनी सखी सागरिका को हर प्रकार का आश्वासन करके सुसंगता राजा के सामने प्रकट हुई। इसे देखकर राजा ने चित्रफलक को वस्त्र से आच्छादित कर लिया। परंतु जब उसने कहा कि मैं सब वृत्तांत जानती हूँ, तो राजा

ने उसे अपने कर्णभूषण उपहार कर दिए, जिससे वह रानी से यह वृत्तांत न बतलावे। सुसंगता ने प्रसन्न होकर कहा— "महाराज, सागरिका आपके विरह में व्याकुल है, आप उस पर अपनी प्रसन्नता प्रकट कीजिए।"

अभी तक तो चित्र-दर्शन ही से राजा का मन लोलुप हो रहा था ; अब सुसंगता के वचन सुनते ही उठ दौड़े। विदूषक ने चित्रपट हाथ में ले लिया कि फिर किसी समय काम आवेगा। सागरिका के सौंदर्य को देख ब्रह्मा के घुणाक्षरवत् निर्माण-कौशल पर दोनों आश्चर्य करने लगे। सागरिका भी लज्जा तथा रोष से अपनी सखी को कुछ कटु वचन कहती हुई चली ; परंतु राजा ने उसका हाथ पकड़कर प्रेम-रस-पूर्ण बातें प्रारंभ कीं। इधर राजा के अपूर्व अनुनय और उधर सागरिका के कोप को देखकर विदूषक ने कहा—"यह तो मुझे दूसरी देवी वासवदत्ता प्रतीत होती है।"

रानी के नाम के श्रवण-मात्र ही से राजा ने सशंकित उसका हाथ छोड़ दिया और वह शीघ्र ही तमालवीथिका की आड़ में होकर निकल गई। तत्पश्चात् राजा देवी को न देखकर विदूषक का उपालंभ करके यथाकथंचित् उस नवयुवती की वार्ताओं से ही काल-व्यत्यय करने लगे, अल्पकाल हो में रानी भी आईं। समग्र कार्यवाही से रानी को अपरिचित जानकर विदूषक से न रहा गया और ज्यों ही वह हाथ फैलाकर हर्ष से नृत्य करने लगा, उसकी कक्षा से चित्रफलक गिर पड़ा। कांचन-

माला ने उसे उठाकर रानी को दिखाया, जिससे उनको अत्यंत कोप हुआ। राजा के बहुत प्रसादन करने पर भी वासवदत्ता ने क्षमा न की और शिरोवेदना के मिस से चली गईं।

अन्य स्त्री पर राजा का यह प्रेम देखकर देवी वासवदत्ता ने सुसंगता को अपने वस्त्र दिए और सागरिका की विशेष देख-भाल रखने की आज्ञा दी। उधर राजा ने जब कोई उपाय प्रिया-समागम का न देखा, तो वसंतक को दूत-कर्म पर नियुक्त किया। इन्होंने सुसंगता की सम्मति से निश्चय किया कि रात्रि में देवी के दिए हुए वस्त्र पहनकर सागरिका आवे और कांचनमाला का वेष बनाकर सुसंगता आवे, और दोनों माधवी लताओं के मंडप में राजा से मिलें।

यह तो विदित है कि कामियों के लिये प्रतीक्षा-समय कितना कष्ट-दायक होता है। किसी प्रकार जो दिन व्यतीत हुआ, तो राजा और वसंतक उसी माधवी लता-मंडप में जाकर बैठे। जब फिर भी धैर्य न हो सका, तो राजा ने विदूषक को देखने के लिये भेजा।

इधर रानी को कांचनमाला के द्वारा यह संपूर्ण वृत्त ज्ञात हो गया, तो उनको भी विशेष वृत्तांत जानने की उत्सुकता हुई। इसलिये संध्या-समय ही में परिचारिका के साथ उसी मंडप को वह भी चलीं। विदूषक की भावना में सागरिका ही चढ़ी थी, वासवदत्ता को पहचान न सके और समझे कि सुसंगता के साथ सागरिका आई हुई है। समयानुसार प्रलाप करते-

करते मदनांध नृप ने अपनी हृदय-ग्राहिणी के विनोदनार्थ यह भी कह डाला कि देवी वासवदत्ता का गौरव मुझे शिरसा धार्य है, परंतु हार्दिक प्रेम केवल सागरिका ही के निमित्त है।

इन सपत्नी-हृदयविदारक शब्दों ने रानी का धैर्य छुड़ा दिया, जिससे वह कोमल शब्दों से राजा का उपालंभ करके लौट गईं। कांचनमाला के कहने पर भी उन्होंने नृप-प्रसादन न स्वीकार किया। राजा भी विदूषक को भला-बुरा कहके देवी के क्रुद्ध हो जाने पर शोक करने लगे, और कोई अन्य उपाय न देख देवी से अपने अपराध की क्षमा माँगनी ही उचित समझकर उनके मंदिर की ओर पधारे।

उधर से नियत समय पर सागरिका भी उद्यान में आई; पर प्रथम समागम तथा अभिसारिका-वेष पर उसे जो लज्जा थी और वासवदत्ता के क्रोध से जो भय था, उससे पद-पद पर वह आकुल थी और प्राण-त्याग का निश्चय करके उसने माधवी लता-प्रतान से अपनी ग्रीवा बाँधी। उस समय वह वही वस्त्र पहने थी, जो रानी ने सुसंगता को प्रदान किए थे। इसी कारण राजा उदयन को भ्रांति हुई कि कदाचित् रानी क्षमा-प्रदानार्थ मेरे पास आ रही हैं। वे उस लता-बंधन को तोड़कर अत्यंत प्रेम-भावित तथा गौरव-पूर्ण चाटूक्तियों से उस भ्रममयी मूर्ति को फुसलाने लगे; परंतु जब उसे पहचाना, तो आनंद-सागर में निमग्न हो गए।

परंतु यह सुख समागम का उचित समय नहीं था और

रानी की कठोरता का अभी अंत नहीं हुआ था; क्योंकि मंदिर पहुँचकर रानी ने अपने अनुचित शब्दों पर पश्चात्ताप करके फिर अपने पति के पास लौटने और उनके प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। धन्य भवितव्यता! कहाँ तो राजा इतना दुःख झेलने के पश्चात् अपने अनंग-तप्त हृदय का संतर्पण कर रहे थे, और वहाँ मार्गरोधिनी वासवदत्ता ने आकर सब प्रयत्न धूल में मिला दिया। इस समय रानी के असीम क्रोध था, जिसके वश होकर राजा के एक-मात्र सहाय विदूषक को लता-पाश से बँधवाकर और सागरिका को आगे करके वह अपने मंदिर को लौट गईं।

रानी ने यह विचारकर कि यदि सागरिका किसी के दृष्टि-गोचर न होगी, तो राजा के समस्त उपाय निष्फल होंगे, यह विख्यात कर दिया कि सागरिका उज्जयिनी भेज दी जायगी। इसे सुनकर उसने अपनी रत्नमाला किसी ब्राह्मण को दान करने के लिये सुसंगता को दे दी, और जब विदूषक रानी के यहाँ से कर्णभूषणादि पाकर छूटा, तो वह माला उसे दी गई। रत्नमाला पहनकर वसंतक फिर राजा को समझाते-बुझाते रहे।

इसी अवसर पर वासवदत्ता ने राजा के निकट एक ऐंद्र-जालिक को भेजा, जो अपने को उज्जयिनी-वासी बतलाता था। राजा उदयन ने उसकी इंद्रजाल-विद्या रानी के साथ देखने की इच्छा से उनको भी बुला भेजा। ऐंद्रजालिक के नानाविध अद्भुत वस्तु दिखलाईं। केवल एक अद्भुत दृश्य अवशिष्ट रहा

था, जब कि सिंहल-राजा के अमात्य वसुभूति और वत्सराज के कंचुकी बाभ्रव्य आए। पहले यह वर्णन हो चुका है कि यह दोनों यथाकथंचित् काष्ठ-खंडों का अवलंबन करके समुद्र के इस पार आए थे और रुमण्वत् के साथ दक्षिण कोशल देश को चले गए थे। अब कोशलराज को जीतकर वह सेना कौशांबीपुरी को आ गई थी, उसी के साथ अमात्य और कंचुकी भी आए थे।

इनके आने पर इंद्रजाल बंद हो गया और यथोचित प्रणामाशिष के पश्चात् जब कुशल-प्रश्न हुआ, तो वसुभूति रोने लगे। पूछने पर उन्होंने वह सब व्यवस्था बतलाई, जो रत्नावली पर समुद्र में बीती थी। अपने मातुल की पुत्री पर ऐसी आपत्ति का वृत्त सुनकर और दैव के अघटित-घटना-सामर्थ्य को न जानकर रानी अति शोक-विह्वला हो गईं। उधर वसुभूति और बाभ्रव्य विदूषक के गले में उस परिचित रत्नमाला को देख-देखकर अनेक विचार करते थे; परंतु कुछ कह नहीं सकते थे।

इतने में महाघोर कलकल-शब्द उठा कि अंतःपुर में अग्नि लग गई है। अग्नि की प्रचंड ज्वालाओं को देख सब लोग आकुलचित्त हो गए। उस समय वासवदत्ता ने बतलाया कि सागरिका महल में संयमित है और यदि बचाई न जायगी, तो अल्प काल में भस्मावशेष हो जायगी। सच्चा प्रेमी कदापि अपने प्राणों को कुछ नहीं समझता। इसी कारण राजा ने सब-

के रोकने पर भी अग्नि में प्रवेश करने का साहस किया। पति-व्रता वासवदत्ता, राजपुत्री की विपत्ति से व्याकुल वसुभूति, और राजभक्त कंचुकी भी अपने-अपने प्राणों को कुछ न समझ-कर अग्नि में प्रविष्ट हो गए।

सागरिका को निगड़-संयत और चलने में असमर्थ देख आशाजनक वार्ता करके राजा ने उसे गोद में उठा लिया और उस स्पर्श-सुख से आँखें मूँद लीं। कहाँ तो वह जाज्वल्य-मान दहनराशि और कहाँ मदन-संताप-राहित्य! ज्यों ही वत्स-राज ने आँखें खोलीं, न अग्नि है, न ज्वाला है; सर्वजन अक्षत-शरीर खड़े हैं; और एक दूसरे को स्वस्थ देख बहुत प्रसन्न हो रहे हैं। सागरिका पर दृष्टि पड़ते ही वसुभूति और अमात्य चित्रलिखित-से हो गए और रूप-संवाद को देख उस कन्या का वृत्त पूछने लगे। न राजा ही बता सके, न रानी ही; वरन् यौगंधरायण पर सब बात रही। अंत में सागरिका के रूप तथा विदूषक की रत्नमाला के परिचय से वसुभूति ने कहा—"राजपुत्रि, रत्नावलि, तुम इस दशा को प्राप्त हो गई हो!" अब तो सागरिका (रत्नावली) ने भी अमात्य को पहचाना। वासवदत्ता ने सागरिका को अपनी मातुल-पुत्री जानकर अपने किए पर कठिन शोक किया, और उसे गले लगाया। राजा और विदूषक को अत्यंत हर्ष हुआ।

अब उचित समय आया, जब कि उस महानीति-निपुण और स्वामिभक्त योग्य अमात्य यौगंधरायण ने सब भ्रम अल्प

काल में दूर कर दिया। उन्होंने आकर संपूर्ण वृत्तांत सिंहलेश्वर-प्रति अपनी कपट नीति का, यानभंग का, रत्नावली के वहाँ पहुँचने और गुप्त रीति से उसका नाम छिपाकर रानी के पास रखने का वर्णन करके शेष कर्तव्य राज्ञी वासवदत्ता की इच्छा पर निर्भर कर दिया। महानुभावा राज्ञी ने अपने आभरणों से रत्नावली को अलंकृत करके राजा को समर्पित कर दिया, और राजा ने सबहुमान उसे ग्रहण करके त्रैलोक्य की संपदा अपने करतल-गत कर ली। इस सुख-संपदा को प्राप्त होकर राजा उदयन ने सर्वलोक के क्षेमार्थ परमेश्वर से प्रार्थना की।

प्रियदर्शिका

जिस समय महाराज उदयन वत्स-देश में राज्य कर रहे थे उसी समय अंग-देश में राजा दृढ़-वर्मा की पताका फहराती थी। इनकी अति सौंदर्यवती कन्या का नाम प्रियदर्शिका था, जिसका वर्णन कतिपय नृपों के कर्ण-गोचर हो चुका था। किस महाराज की ईहा ऐसे स्त्री-रत्न के प्राप्त होने की न थी, तथापि कलिंगराज तो इतना प्रेम-परवश था कि किसी प्रकार इस अवसर को अपने हाथ से नहीं जाने देना चाहता था। निदान उसने प्रियदर्शिका के पिता से प्रार्थना की; परंतु उन्होंने प्रथम ही निश्चय कर लिया था कि ऐसे अमोल रत्न का समागम वत्सराज के अतिरिक्त किसी के योग्य नहीं है; इसलिये कलिंगराज की प्रार्थना निष्फल हुई।

स्त्री का कारण, राज्यमद, विनय का अस्वीकार होना, वत्सराज से ईर्ष्या, क्षत्रिय का कोप, सभी बातें ऐसी थीं कि कलिंगराज को अंध करके उसे अंग-देश पर चढ़ाई करने को उद्यत करतीं। परिणाम यह हुआ कि बहुत बड़ी सेना लेकर उसने दृढ़वर्मा की राजधानी पर आक्रमण किया और राज्य

पर अपना स्वत्व स्थापित करके राजा को पकड़ लिया। इस दारुण समय पर विनयवसु-नामक स्वामिभक्त कंचुकी ने साहसावलंब करके राजकन्या को अपने साथ लिया और बुढ़ापे से जर्जरीभूत होने पर भी यथाकथंचित् उसे बाहर निकाल अंगराज के मित्र नृपति विंध्यकेतु के यहाँ शरण ली। विंध्यकेतु ने इनका सत्कार करके प्रियदर्शिका को अपने अंतःपुर में रख दिया।

एक दिन कंचुकी अगस्त्य-तीर्थ में स्नान करने के लिये गया था कि किसी विकराल सेना ने आकर विंध्यकेतु की नगरी को निर्जनवत् कर दिया, और अग्नि लगा दी। सब आशा छोड़े और केवल अपने खड्ग तथा बाहुबल के भरोसे राजा ने अत्यंत अपूर्व एवं भीषण संग्राम किया; परंतु विधिवामता से उसने वहीं पर वीर-गति पाई।

राजा के मारे जाने पर उसकी रानियाँ तो सती हो गईं, बचे-बचाए जन भागकर विंध्य-शिखर पर चढ़ गए और अनाथ प्रियदर्शिका "हा तात, हा मात" आदि हृदयविदारक प्रलाप करने लगी। सैनिकों ने रूप-रेखा तथा रंग-ढंग से उसे विंध्यकेतु की कन्या जानकर पकड़ लिया और प्रस्थान किया।

इस शत्रुमर्दिनी सेना को महाराज उदयन ने अपने सेनानी विजयसेन के साथ भेजा था। भेजने के पश्चात् कुछ दिनों तक कोई वृत्तांत न मिलने से वत्सराज उसकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे कि उस मंदभागिनी राजपुत्री को साथ लेकर

विजयसेन पहुँच गए। राजा ने अपनी सेना की विजय तथा शत्रु की वीरता का वृत्त सुनकर, उस कन्या को अपनी कृता-भिषेका रानी वासवदत्ता के पास भेज दिया, और आज्ञा दी कि इसे अपनी भगिनी के समान रखकर गीत, नृत्य, वाद्य आदिक कन्याओं के योग्य संपूर्ण कला सिखलाओ, और विवाह-योग्य होने पर मुझे बतलाओ।

इस प्रकार वत्सराज की आज्ञा से प्रियदर्शिका अंतःपुर में रहने लगी। परंतु उसका यथार्थ नाम एवं कुल किसी को परिचित नहीं था। लोग उसे विंध्यकेतु की दुहिता समझते थे और अरण्य अर्थात् वन में मिलने के कारण उसे आरण्यका कहते थे। उसने भी इस अपरिचित समाज में अपना पता गुप्त रखना चाहा। जब इस बात का ज्ञान उसे भी नहीं था कि उसकी और देवी वासवदत्ता की माताएँ सोदर बहनें थीं, तो रानी को इसका पता कैसे मिल सकता था!

आरण्यका का मुख्य काम रानी वासवदत्ता की परिचर्या थी और उसका हार्दिक स्नेह मनोरमा नाम की एक दूसरी परिचारिका से हो गया था। एक दिन रानी ने कोई व्रत-विशेष किया, और भगवान् अगस्त्यजी की पूजा के लिये शेफा-लिका पुष्प लाने के निमित्त इंदीवरिका को, एवं कमल-पुष्प लाने के निमित्त आरण्यका को भेजा। बेचारी आर-ण्यका ने सरोवर भी नहीं देखा था। विधि की प्रतिकूलता!

जो राजदारिका एक प्रशस्त वंश में पैदा हुई थी, जिसकी आज्ञानुवर्तिनी बहुत-सी चेटियाँ रह चुकी थीं, जिसके सौंदर्य पर कतिपय राजसिंह अपना सर्वस्व अर्पण करने को उद्यत थे, वही तपस्विनी बालिका, इस समय दूसरे की सेवा में रत, अनाथवत् अपने फूटे कर्म का दोष देती, पुष्प तोड़ने के निमित्त जा रही है। सरोवर तक साथ आकर इंदीवरिका ने आरण्यका से जुदा होना चाहा; परंतु एकाकिनी रहने का दुःख उसे इतना असह्य था कि उसने अपने साथ रहने के लिये इंदीवरिका से आग्रह किया। लाघवकारिणी सेवा के वश यह तो असंभाव्य था। इसलिये इंदीवरिका ने इस प्रकार की हास्य-वार्ताओं से उस अवसर को टाल दिया कि विंध्य-केतु की पुत्री अब विवाह-योग्य हुई है, और जब महाराज किसी के साथ उसका विवाह कर देंगे, तो उसे अपनी परि-चित सखियों से पृथक् रहना होगा।

सरोवर के समीप ही इंदीवरिका शेफालिका कुसुम चुनने लगी और आरण्यका ने कमल तोड़ना आरंभ किया। परंतु अल्प काल ही में भ्रमरगण ने उसे इतना सताया कि बेचारी अपने शरीर की रक्षा भी न कर सकी, और अपना मुख अंचल से लपेटकर इंदीवरिका का आह्वान करने लगी।

उसी व्रत के संबंध में देवी वासवदत्ता ने वसंतक विदूषक को स्वस्तिवायन ग्रहण करने के लिये बुलाया था;

और जब वह अनुपम खाद्यों का स्मरण कर-करके उत्फुल्ल-गात्र, सरोवर में स्नान करने जा रहा था, मार्ग में महाराज उदयन से भेंट हो गई, जिन्होंने उसे हठात् रोक लिया। दोनो साथ-ही-साथ धारागृहोद्यान को गए और विविध वृक्ष, हरित-लता, घननिभृतकुंज, सुरभि-कुसुम, त्रिविध वायु, भ्रमरों का झंकार, हंसादि पक्षियों का कलरव और अन्य हृदयाह्लाद-कारक वस्तुओं का अनुभव करते हुए सरोवर के समीप पहुँचे।

इंदीवरिका को देख विदूषक ने राजा का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया; परंतु उनका परस्पर आलाप सुनकर राजा और विदूषक वृक्षों की ओट में हो गए। आरण्यका का अलौकिक सौंदर्य एवं अनुपम लावण्य महाराज के हृदय में चुभ-सा गया; परंतु अभी तक उन्हें नहीं ज्ञात था कि यह कौन है। निदान जब उन्होंने इंदीवरिका को विंध्यकेतु-दुहिता का नाम लेते सुना, तो संपूर्ण वृत्त समझ में आ गया। भगवान् कुसुमबाण ने तो दृष्टि-मात्र ही से राजा के हृदय में बसेरा लिया था; केवल यह विचार था कि यह स्त्री विवाहिता है या अन्यथा, मेरे योग्य या अयोग्य है। इंदीवरिका के हास्य ने पूरा न्याय कर दिया, और राजा के हृदय में कामाग्नि इतनी उद्दीपित हुई कि उससे समागम करने का यत्न खोजा जाने लगा।

दैव अनुकूल था। भ्रमर-समूह से उद्विग्न आरण्यका अंचल से मुख लपेटकर इंदीवरिका को सहायतार्थ पुकार रही थी। ऐसे अनुकूल समय पर विदूषक की अनुमति पाते

ही महाराज उदयन सरोवर का जल मँझाते अपनी हृदयंगमा के पास पहुँच गए और प्रिय सखी इंदीवरिका के ब्याज से उन्होंने आरण्यका का गाढ़ परिष्वंग किया। कुछ धैर्यावलंब करके ज्यों ही उसने मुख पर से अंचल-पट हटाया, त्यों ही वत्सराज अत्यंत समाश्वासक चाटु वचन सुनाने लगे। एक अज्ञात पुरुष को देख आरण्यका सभय अलग खड़ी हुई और इंदीवरिका को उच्च स्वर से बुलाने लगी; परंतु जब विदूषक के वचन से यह जाना कि यह स्वयं महाराज उदयन हैं, तो उसी समय उसका हृदय मकरकेतन के बाणों से बिद्ध हो गया।

इधर इंदीवरिका ने इसका आर्त स्वर सुनकर वहीं से प्रत्युत्तर दिया कि आ रही हूँ. जिस पर महाराज उदयन वहाँ से शीघ्र ही भागकर फिर पेड़ों की आड़ में छिप गए। इसके पश्चात् ही आकर इंदीवरिका उस नृप-हृदयवल्लभा को अपने साथ ले गई; और वत्सराज, उसके विरह का क्लेश उठाते तथा उसके समागम का उपाय सोचते, विदूषक को साथ लेकर राजगृह को पधारे।

देवी वासवदत्ता ने अनेक प्रबंध ऐसे कर रक्खे थे, जिससे आरण्यका महाराज के दृष्टिगोचर न हो। इसी कारण वत्स-राज का कोई समागमोपाय सफल नहीं देख पड़ता था। परंतु कुछ काल में विधिवशात् एक ऐसी घटना हुई, जिससे महा-राज को कुछ संतोष हुआ। वह यों थी कि सांकृत्यायनी नाम

नाट्याचार्यो ने एक नाटक रचा था, जिसमें महाराज उदयन का राजा प्रद्योत के यहाँ बँधुआ हो जाना, प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता को वीणावाद्य सिखलाने के अर्थ उनका नियत किया जाना, कला-कुशलता का परिचय देने पर वत्सराज को छोड़ देने की प्रतिज्ञा, वत्सराज और वासवदत्ता का विवाह, इत्यादि सब वर्णित था। वही नाटक रानी के विनोदार्थ खेला गया; परंतु उसमें आरण्यका, जो वासवदत्ता बनी थी, कुछ ऐसी शून्यहृदय-सी हो गई कि उस पर रानी का क्रुद्ध हो जाना संभव था। इस नाटक का प्रथम भाग एक दिन हो चुका था और दूसरा भाग होनेवाला था। इसलिये मनोरमा अपनी प्रिय सखी आरण्यका को ढूँढ़ती थी कि उसको अच्छे प्रकार अभिनय करने का उपदेश करे।

निदान मनोरमा ने देखा कि आरण्यका सरोवर के तीर कदलीगृह में अकेली बैठी हुई कामावस्था को प्राप्त विश्रब्ध आलाप कर रही है। कभी अपने हृदय का उपालंभ करती है; कभी उस स्नेह-पात्र महाराज का समागम कठिन समझकर रोदन करती है; और कभी अपने दुर्भाग्य का दोष देती है। इस शोचनीय दशा को देख और आरण्यका की महानुभावता को हृदय से सराहकर मनोरमा आड़ से प्रकट हुई और अपनी प्रिय सखी का समाश्वासन करने लगी। परंतु विरह-कातर आरण्यका को किसी भाँति विश्वास नहीं होता था कि महाराज स्वयं उसके समागम का प्रयत्न कर रहे होंगे।

उधर उदयनजी के हृदय में मन्मथाग्नि इतनी उद्दीपित हुई कि उन्होंने उसी एकतान-चिंता में व्याकुल होकर राज-काज भी छोड़ दिया और विदूषक को उस चित्तग्राहिणी को ढूँढ़ने के लिये नियत किया। परंतु गुप्त रीति से पता लगाने पर भी जब काम सिद्ध न हुआ, तो विदूषक ने आरण्यका के स्पर्श किए हुए कमलिनी-दल लेने के विचार से सरोवर का मार्ग ग्रहण किया। जब राजा की कामावस्था पर अपने-आप ही बड़बड़ाते हुए यह जा रहे थे, तो इनका भेद उन दोनों स्त्रियों ने सुना, जिससे उन्हें अत्यंत संतोष हुआ।

अब मनोरमा ने विदूषक को बुलाकर वृत्त पूछा, तो पहले तो रानी के भय से वह इधर-उधर करता रहा, परंतु जब उसे निश्चय हो गया कि बतलाने से राजा को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, तो उसने मनोरमा से आरण्यका के मिलने का यत्न पूछा। उस चतुर स्त्री ने विदूषक के कान में कह दिया कि देवी वासवदत्ता के विनोदनार्थ नाटक होनेवाला है। उसमें देवी की भूमिका में आरण्यका रहेगी और राजा की भूमिका में मैं रहूँगी। ऐसे अनुकूल समय पर महाराज को चाहिए कि जो वस्त्र उस समय धारण करने के निमित्त मुझे मिलेंगे, उन को वह स्वयं धारण करके नाट्यशाला में प्रकट हो जायँ और मैं कहीं छिपकर बैठ रहूँ। इस प्रकार उन प्रेमियों का परस्पर समागम हो जायगा। यह उपाय विदूषक के मन में भी जम गया।

संध्यासमय व्यतीत होते ही नाट्यशाला की विशाल रचना होने लगी, और देवी की आज्ञा से मनोरमा एवं आरण्यका को अपने-अपने कार्य के अनुकूल वस्त्र-आभूषण आदि मिले। नियत बेला के आने पर देवी वासवदत्ता सांकृत्यायनी, आरण्यका और समग्र परिवार नाट्यमंडप में उपस्थित हुआ। प्रथम तो वासवदत्ता-विषयक अन्य-अन्य बातों का अभिनय होता रहा, फिर समय आते ही मनोरमा के दिए हुए वस्त्रों को पहनकर राजा स्वयं उपस्थित हुए। इनकी वार्ता, चाल-ढाल, रूप-रेखा और स्वभाव को देखकर सबको मनोरमा की चतुरता पर आश्चर्य होता था; यहाँ तक कि रानी वासवदत्ता ने यथार्थ राजा मानकर, जैसे वह थे, उनका सत्कार करना चाहा; परंतु सांकृत्यायनी ने समझा दिया कि यह नाटक है, राजा नहीं आप हैं। इधर राजा को भी बार-बार संदेह होता था कि कहीं किसी ने, विशेषकर देवी ने, मुझे पहचान तो नहीं लिया।

सांकृत्यायनी को इस कूट-अभिनय का भेद ज्ञात था। इसलिये उन्होंने अपने नाटक की रचना ऐसी की थी, जिससे उन दो प्रेमियों को परस्पर वार्तालाप करने, एक आसन पर बैठने, पाणिग्रहण तथा परिष्वंग करने का अवसर मिले। इस निरंकुशता को देख देवी वासवदत्ता को प्रसन्नता न हुई। उन्होंने नाट्यशाला से चले जाने का उद्योग कई बार किया; परंतु विदग्ध नाट्याचार्या ने उन्हें समझा दिया कि नाटक

में ऐसी वस्तुओं का होना अनुचित नहीं है। अस्तु, किसी प्रकार रानी वहाँ पर उपस्थित रहीं।

इधर तो राजा आनंद-सागर में निमग्न हो रहे थे, और उधर मनोरमा तथा विदूषक आड़ में बैठे थे। राजा की कामावस्था में दिन-रात्रि साथ रहने तथा उपाय-चिंतन से विदूषक को सोने का अवसर नहीं मिला था, इससे वह बैठा हुआ ऊँघ रहा था। ज्यों ही आरण्यका का अनुपम नृत्य होने लगा, मनोरमा ने विदूषक को जगा दिया; परंतु वह नहीं समझती थी कि इससे क्या अनर्थ होगा। निद्रावश वसंतक को नृत्य-वाद्य कब अच्छा लग सकता था? दो-चार बातें बुरी-भली कहकर और वहाँ से निकलकर वह नाट्यशाला के द्वार पर जा सो रहा था।

विदूषक को द्वार-देश पर प्रसुप्त देखकर इंदीवरिका ने वासवदत्ता को वृत्त बतलाया, जिससे उनको संदेह हुआ कि महाराज भी इसी स्थान पर कहीं होंगे, झट वहाँ पहुँचकर रानी ने विदूषक को जगा दिया। वह मूर्ख समझा कि मनोरमा फिर जगा रही है। इसलिये उसने पूछा कि महाराज नृत्य करके आ गए या नहीं। इस प्रश्न से सब रहस्य खुल गया, और वासवदत्ता ने राजा का उपालंभ ऐसे व्यंग्य-वचनों से किया, जो सुनने में मृदु, परंतु समझने में कठोर थे। इस समय राजा किं-कर्तव्य-मूढ़ हो गए; अपना अपराध देवी से क्षमा कराना चाहा; पैरों पड़े; परंतु देवी को अधिक

कोप था ; वह कदापि प्रसन्न न हुईं और विदूषक तथा आरण्यका को बँधुआ कराके अपने साथ ले गईं ।

वासवदत्ता के कोपभाजन विदूषक तथा आरण्यका कारा-गृह में डाल दिए गए ; परंतु विदूषक किसी प्रकार बंधन तोड़-ताड़कर निकल भागा और महाराज से आ मिला। रह गई बेचारी आरण्यका, सो रात्रि-दिन अपने फूटे भाग्य पर रोती और अपने इस शोचनीय दशा तक पहुँचने का विषाद करती थी। उसके दुःख की कोई सीमा ही नहीं थी। माता-पिता से छूटना, अपरिचित लोगों में वास, कारागृह की भयानकता, देवी का कोप और सबसे अधिक उस हृदयचोर महाराज का विरह, सभी उसको विपत्सागर में डुबाते थे। इस दशा में पड़े-पड़े उसकी सहनशक्ति भी अब चली गई, और दो-एक अवसर पर उसने आत्मघात करना चाहा ; परंतु उसकी एक-मात्र सखी मनोरमा ने आकर किसी प्रकार उसे ऐसे भयानक काम से रोका।

इधर रानी के हृदय में महाराज की ओर से जो ग्रंथि-सी पड़ गई थी, उसका खुलना कठिन था। वह स्वयं लज्जित थे। इसलिये देवी के पास बार-बार आने का साहस नहीं पड़ता था, और जब आते भी थे, तो देवी अपना आत्मगौरव नहीं छोड़ती थीं ; केवल ऊपर का शिष्टाचार तो अधिक बढ़ गया था, परंतु हार्दिक प्रेम खुलकर नहीं था।

एक दिन रानी वासवदत्ता की माता देवी अंगारवती का

पत्र आया, जिसमें अंग-देश के राष्ट्रविप्लव तथा दृढ़वर्मा के पकड़ लिए जाने का हाल लिखा था । दृढ़वर्मा की स्त्री अंगारवती की भगिनी तथा वासवदत्ता की मातृष्वसा (मौसी) थीं। इसलिये अंगारवती ने अपनी पुत्री वासवदत्ता को लिखा कि वह अपने पति वत्सराज से कहकर कलिंगराज पर चढ़ाई करावें और उसके कारागृह से दृढ़वर्मा को छुड़ाकर अंग-देश के राज्य पर स्थापित करावें । इस पत्र को पढ़कर रानी को अत्यंत शोक हुआ ; परंतु विशेष विषाद इस बात का था कि वह अपना मान छोड़कर महाराज उदयन से अपने कार्य के लिये विनय करना अयोग्य समझती थीं ।

जब देवी इस चिंता से पर्याकुलित हो रही थीं, और वृद्ध सांकृत्यायनी उनका समाश्वासन कर रही थीं, उसी समय राजा उदयन भी देवी-प्रसादन के निमित्त उपस्थित हुए। इनके बहुत कुछ विनय करने पर भी रानी आर्द्र न हुई, और उनके रोष का कोई चिह्न लुप्त न हुआ। समय अनुकूल जानकर सांकृत्यायनी ने राजा से देवी के दुःख का कारण बतलाया । परंतु ऐसे कार्यों में राजा कभी चूकते नहीं थे। वृत्त सुनते ही हँस पड़े, और कहा कि मैंने पहले ही इसका प्रबंध कर दिया है। मैंने विजयसेन को कलिंगराज के विजय करने तथा अंगराज को उसके पंजे से छुड़ाने के लिये भेजा है। कलिंगराज की सेना हार गई है, और उसने एक दुर्ग में

आश्रय लिया है। अल्प काल ही में वह या तो पकड़ा जायगा या मारा जायगा।

अब तो रानी को कुछ संतोष हुआ। इसी बेला में विजयसेन और अंगराज का कंचुकी विनयवसु, दोनों आए। उन्होंने कलिंगराज के मारे जाने और दृढ़वर्मा के पुनः राज्य पर स्थापित किए जाने का वृत्तांत बतलाया। कंचुकी ने कहा कि महाराज दृढ़वर्मा ने अपनी दुहिता प्रियदर्शिका का विवाह उदयन के साथ करने का संकल्प किया था; परंतु उसके परिभ्रष्ट हो जाने से इस संबंध का सौभाग्य न प्राप्त हो सका।

इस वार्तालाप के होते ही मनोरमा ने आकर उद्वेग के साथ कहा कि आरण्यका ने भोजन के साथ विष खा लिया है, और इस समय उसके प्राण संशय-तुलाधिरूढ़ हैं। इस वार्ता के सुनते ही रानी का हृदय क्षुब्ध हो गया; क्योंकि जनापवाद तथा विष दे देने का अपयश उन्हीं के माथे पड़ता। रानी ने शीघ्र ही उसके लाने की आज्ञा दी, और एक बार फिर वह समय आया कि दो प्रेमी एकत्रित हों। विष का प्रभाव बड़ा कठिन होता है; परंतु काम की मादकता को देखिए कि इस अवस्था में भी आरण्यका की जिह्वा पर महाराज उदयन ही का नाम था।

इसको देखते ही विनयवसु कंचुकी ने पहचान लिया, और जब उसे ज्ञात हुआ कि यह विंध्यकेतु की लड़की के नाम से विख्यात है, तो सब संशय दूर हो गया। उसने सबसे बत-

लाया कि यह दृढ़वर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका है और विधि-वामता से विंध्यकेतु के यहाँ पहुँच गई थी। अब तो रानी को और भी अधिक खेद हुआ ; परंतु उन्होंने महाराज उदयन से विनय की कि वे उसका विष मंत्र द्वारा उतारें। महाराज ने नागलोक में विषोत्तारिणी विद्या सीखी थी। उन्होंने जल को अभिमंत्रित करके प्रियदर्शिका पर छिड़का, और हाथ से उसका स्पर्श किया, तो विष का प्रभाव दूर हो गया। बोध के होते ही जब उसने कंचुकी को देखा, तो वही तात-मात की पुकार प्रारंभ हुई ; परंतु कंचुकी ने विश्वास दिलाया कि महाराज उदयन के प्रताप से तुम्हारे माता-पिता सकुशल हैं, और अंग-देश का राज्य कर रहे हैं। देवी वासवदत्ता ने भी अपनी प्रिय भगिनी प्रियदर्शिका का गाढ़ परिष्वंग किया।

जैसे सब काम के बिगाड़ने का दोष विदूषक के सिर पर था, वैसे ही अनुकूल समय पाकर काम बनाने का सौभाग्य भी उसी को प्राप्त हुआ। उसने देवी वासवदत्ता से कहा कि आप तो भगिनी को कंठ में लगा-लगाकर परितुष्ट हो रही हैं, और विषवैद्य को पारितोषिक देना भूल गई हैं। कौन नहीं समझ सकता था कि ऐसे पारितोषिक का क्या अर्थ है ? यद्यपि सपत्नीभाव बड़ा कठिन होता है, तथापि वासवदत्ता-सी महानुभावा महिषी के लिये इतने बृहत् काम के करने का यथाभिलषित पारितोषिक देना कोई आश्चर्यजनक वस्तु नहीं है।

उन्होंने प्रियदर्शिका का हाथ पकड़कर, प्रसन्नचित्त हो,

राजा को प्रदान कर दिया। प्रथम तो लज्जावश राजा कुछ दबते-से रहे, परंतु आग्रह करने पर उन्होंने इस ईप्सित दान को ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार उन दो प्रेमियों की अभिलाषा पूर्ण हुई। ऐसे हर्ष के समय में वत्सराज उदयन ने ईश्वर से प्रार्थना की कि सब लोग अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्म में नियुक्त और तापत्रय से रहित होकर समग्र सुख भोग करें।

नागानंद

विद्याधर एक देवयोनि-विशेष है। किसी समय राजा जीमूतकेतुजी इन विद्याधरों के चक्रवर्ती स्वामी थे। इन्होंने ऐसी नीति से प्रजा का शासन किया कि इनका प्रताप तीनों लोकों में झलकने लगा, और बड़े-बड़े राजा इनके आश्रित हो गए। इनके एक-मात्र पुत्र का नाम जीमूतवाहन था। यह राजपुत्र अत्यंत विनीत, सकल कला-कुशल, दयारस-पूर्ण तथा परोपकारी था, और अपने माता-पिता की शुश्रूषा में तो इतना रत था कि इनकी सेवा के सामने उसे राज्य-सुख भी परम तुच्छ लगता था। पिता के आगे भूमि पर बैठना, उनके चरण दाबना, उनका भुक्तशेष खाना और उनके सुख की समग्र सामग्री एकत्रित करना, इसी को राजकुमार परम धर्म जानता था।

चिरकाल राज्य करने पर जब महाराज जीमूतकेतु वृद्ध हुए, तो उन्होंने जीमूतवाहन को राज्य देने तथा रानी के साथ तपस्यार्थ वन जाने का संकल्प किया। परंतु राजकुमार ने राज्यग्रहण स्वीकार न किया और कहा कि आपके साथ

वन में रहकर सेवा करूँगा। बहुतेरा समझाने पर भी कोई वश न चला, तो राजा ने राज्य-भार मंत्रियों पर रखकर वन की राह ली; राजपुत्र भी इनके पीछे हो लिया। निदान यह सब एक वन में रहने लगे। देश-काल के अनुरोध से जीमूतवाहन को अपने पिता-माता की सेवा का अधिक अवसर मिलने लगा, जिससे उसे परम सुख था।

उस स्थान पर अन्य मुनि भी रहते थे। इससे कुछ दिनों के उपरांत इन लोगों को आवश्यकतानुकूल फल-मूल मिलने में कुछ कठिनता होने लगी। तब दूसरे स्थान पर जाने का विचार हुआ। पिता के इस मनोरथ को जानकर जीमूतवाहन अपने साथी आत्रेय विदूषक के साथ योग्य स्थान ढूँढने निकला। मार्ग में अनेक प्रकार के विश्रंभालाप होते जाते थे; कभी तो राजकुमार की अलौकिक पितृभक्ति पर विदूषक का निर्भर्त्सन, कभी निंदनीय राज्यसुख की तुच्छता, कभी जीमूतकेतु के शत्रु मतंग के आक्रमण की वार्ता, कभी विचित्र वन की शोभा का वर्णन, कभी शीतल, सुरभि, मंद मलय-मारुत की प्रशंसा, कभी महामुनियों के झोपड़ों का दृश्य—इस प्रकार देखते-भालते और बातें करते एक स्थान पर पहुँचे, जिसकी अनुपम रमणीयता ने इनके चित्त को आकर्षित कर लिया। यह स्थान मलय-पर्वत का एक भाग था। यहीं पर कुटी बनाने का निश्चय हुआ।

राजपुत्र जीमूतवाहन का दक्षिण नेत्र पहले ही से फड़क

रहा था और वह कुछ शुभ फल पाने की प्रत्याशा कर रहे थे। इतने में उन्होंने और विदूषक ने देखा कि कतिपय हरिण चुप-चाप बैठे हुए हैं; कान तक भी नहीं हिलाते; जो घास मुँह के भीतर है, वह वैसे ही दबी है; रोमंथ (जुगाली) तक भी नहीं करते। अनुमान से जाना कि कोई शब्द सुन रहे हैं; परंतु जब स्वयं ध्यान देकर कान लगाया, तो वह शब्द सुनाई देने लगा। ऐसा हृदयाह्लादी शब्द तो पूर्व में कभी नहीं सुना था। अब यह जानने की इच्छा हुई कि यह शब्द कहाँ से आता है।

जिस दिशा से वह मनोरंजक ध्वनि आ रही थी, उसी ओर चले, तो एक देवता का मंदिर देखा, जिसके भीतर कोई स्त्री वीणा बजा रही थी। पहले तो प्रवेश करने का इरादा किया; परंतु यह सोचकर रुक गए कि कदाचित् वह स्त्री हमारे देखने-योग्य न हो। बाहर खड़े होकर आड़ से सुना कि वह स्त्री अपने गीत में अपनी अभीष्ट-प्राप्ति का वरदान देवी से माँगती है, और उसकी परिचारिका वारंवार कहती है कि वृथा श्रम मत करो, भगवती निष्करुणा हैं; क्योंकि इतना नियम करने पर भी अब तक प्रसन्न न हुईं। जगज्जननी की निंदा उसे अच्छी न लगी, तो उसने परिचारिका से बतलाया कि भगवती पार्वती स्वप्न में मुझे मेरे हीं अनुकूल वर दे गई हैं।

इन बातों को सुनकर राजकुमार और विदूषक को ज्ञात हुआ कि यह कोई कन्या है, और उसके देखने में कोई दोष न जानकर दोनों झाँकने लगे। जितना उसके वीणावाद्य से

हर्षित हुए थे, उससे शतगुण उसके रूप-सौंदर्य से प्रमुदित हो गए। राजकुमार ने उसकी बड़ी प्रशंसा की, और उसके दर्शन से अपने को कृतकृत्य माना।

चतुर विदूषक तत्क्षण ताड़ गया कि जीमूतवाहन बहुत दिन के पीछे मन्मथ के फंदे में पड़ गए। इसलिये योग्य अवसर पाकर उसने इनका हाथ पकड़ मंदिर के भीतर कर दिया और कहा कि यही वर भगवती ने दिया है। इनकी दृष्टि में पड़ते ही कन्या के हृदय के कपाट-से खुल गए। चित्त से चाहती थी कि किस प्रकार इनको आँखों के द्वारा पी लूँ; परंतु लज्जा के वश वहाँ ठहरना भी अयोग्य समझती थी। जब विदूषक ने देखा कि रंग में भंग हुआ चाहता है, तो उनके अतिथि-सत्कार न करने की निंदा करने लगा। इस प्रकार ज्यों-त्यों वह उस स्थान पर ठहर गई; परंतु अल्पकाल ही में दोपहर आ गई, और एक तापस उसे स्नान-भोजन के निमित्त बुला ले गया। राजपुत्र और आत्रेय भी वहाँ से निकल-कर उस समय कर्तव्य स्नानादि करने लगे।

इस कन्या का नाम मलयवती था, और यह सिद्धों के राजा विश्वावसु की दुहिता तथा मित्रावसु की बहन थी। विश्वावसु चाहते थे कि अपनी कन्या का विवाह जीमूतवाहन से करें, यह सुनकर कि विद्याधर राजपुत्र उसी मलय-पर्वत पर था, उन्होंने अपने पुत्र मित्रावसु को उसके ढूँढने के लिये भेजा।

मलयवती और राजकुमार एक दूसरे को एक ही बार देखने

से इतने स्नेह-परवश हो गए कि किसी समय चैन आता था; जब तक जगते थे, उसी सुंदर स्वरूप का ध्यान, उन्हीं बातों का स्मरण रहता था—कभी यहाँ बैठे, कभी वहाँ गए; परंतु चित्त को संतोष कैसे हो? सोने के समय भी इन्हीं वस्तुओं के स्वप्न देखते थे।

मलयवती का हृदय-संताप इतना अधिक था कि उसने चंदन-लतागृह में चंद्रकांत-शिला पर बैठकर अपनी विरह-कातर आत्मा को सुखी करना चाहा। मार्ग में इसका हृदय ऐसा शून्य-सा था कि कभी इधर जाती थी, कभी उधर। परंतु चतुरिका ने किसी प्रकार उसे वांछित स्थान तक पहुँचाया। उसकी विरह-वेदना इतनी थी कि चंद्रकांत शिला उसे उष्ण लगती थी, मलय-मारुत के झकोरे और भी संतापित करते थे, चंदन-द्रव अग्नि-सा प्रतीत होता था। इन सब बातों को एवं उसके शून्यहृदयत्व को देख चतुरिका समझ गई कि यह अग्नि केवल उसी हृदयंगत राजपुत्र के मिलने से शांत हो सकती है।

उधर जीमूतवाहन भी प्रेम के फंदे में फँसा विकल हो रहा था। स्वप्न में देखा कि मेरी प्रियतमा उसी चंदन-लतागृह में, उसी शिला पर बैठी हुई मेरे मिलने के लिये रो रही है। इसी स्वप्न को अपने मित्र विदूषक से वर्णन करता हुआ राजपुत्र उसी गृह की ओर आ रहा था कि इन दो कन्याओं ने पद-शब्द सुनकर वहाँ से दूर होकर आड़ से कुल घटना देखने

का इरादा किया। इतने में ये दोनों भी पहुँच गए और शिला पर बैठकर समय काटने लगे। परंतु विरहियों का समय भी कठिनता से कटता है। इसलिये जीमूतवाहन ने पर्वत की चोटी से रंग मँगाकर अपनी वल्लभा का चित्र खींचना आरंभ किया। ज्यों-ज्यों रेखा-पर-रेखा खींचते थे, अधिक रोमांच होता जाता था, और विदूषक भी इस कला-कौशल को देख-देख प्रसन्न होता था।

राजकुमार ने मलयवती की जो अवस्था स्वप्न में देखी थी, वह यथार्थ में कभी हुई तो थी नहीं; इसलिये उसे अत्यंत संदेह था कि विद्याधर युवराज किसी दूसरी स्त्री पर मोहित है। उसे शिला पर चित्र लिखते देख यह संदेह और भी पक्का हो गया। मलयवती इतनी निराश हो गई कि उसने वह स्थान छोड़ देना योग्य समझा; परंतु फिर भी चतुरिका ने उसे पकड़कर रोका।

मलयवती के पिता विश्वावसु ने अपने पुत्र मित्रावसु को जीमूतवाहन के ढूँढने के लिये भेजा था। वह भी खोजते-खोजते इस समय राजपुत्र के पास पहुँचा। उसने कहा—"राजकुमार, मेरे पिता ने आपको संदेश दिया है कि मलयवती को आप स्वीकार कीजिए।" परंतु इनको अभी तक यह नहीं ज्ञात था कि इनकी प्राणवल्लभा ही मलयवती थी, इसलिये इन्होंने विवाह स्वीकार न किया, और प्रत्यक्ष कह दिया कि मेरा मन दूसरी स्त्री पर लगा हुआ है।

राजपुत्र के अस्वीकार को सुन मित्रावसु उसके पिता से आज्ञा लेने के लिये वहाँ से चला गया, और मलयवती को पूर्ण निश्चय हो गया कि यदि अभिलषित वर नहीं मिलता, तो जीवन से क्या लाभ। यह विचारकर उसने चतुरिका को किसी व्याज से बाहर भेजकर वासंती लता तोड़ी, और उससे अपने गले में फाँसी लगाने का उद्योग किया। परंतु चतुरिका वास्तव में चतुर थी। वह बाहर खड़ी यह सब कर्म देख रही थी। झट जीमूतवाहन को पुकारा कि आकर उसका छुटकारा करें।

आर्त शब्द सुनते ही दोनों उठ दौड़े, और राजपुत्र ने उस तपस्विनी के गले से पाश दूर किया। इस बात का विश्वास दिलाने के लिये कि यथार्थ में राजकुमार इसी निराश कन्या को चाहता था, उसने शिलापट्ट पर खिंची हुई चित्र-रचना दिखलाई। यह चित्र मलयवती ही का था, जिसे देख राज-कुमार की निपुणता को सब लोग सराहने लगे। ज्यों ही राजपुत्र ने पाश-मोचन के उद्योग में मलयवती का हाथ पकड़ा, उसी समय उनका गांधर्व विवाह हो चुका।

यह लोग इसी हर्ष में मग्न हो रहे थे कि एक चेरी ने आकर संदेश दिया कि महाराज जीमूतकेतु ने मलयवती का विवाह अपने पुत्र के साथ स्वीकार कर लिया है।

विवाह स्वीकृत हो जाने पर धूमधाम से सब प्रबंध होने लगा। राजभवन, वाटिका, उपवन, मार्ग आदि सब

विभूषित किए गए, और वर तथा कन्या की ओर से विद्याधर एवं सिद्धगण आनंद मनाने लगे।

इसी हर्ष में मग्न, वारुणी का प्याला चढ़ाए और अपनी प्रणयिनी रोमालिका को ढूँढता हुआ शेखरक-नामक एक कामी, मद्यप घूम रहा था। इसी बीच में सिद्धों की दी हुई कल्पवृक्ष-पुष्पों की माला पहनकर और कंधे पर वस्त्र रक्खे हुए विदूषक भी उधर से आ निकला। परंतु जब उसने देखा कि भ्रमर बहुत दुःख दे रहे हैं, तो उन्हीं वस्त्रों से सिर से पैर तक अपने को ढक लिया। शेखरक को भ्रम हुआ कि यह मेरी प्रिया रोमालिका आ रही है। चटपट आकर चिमट गया और उसे अप्रसन्न जान पैरों में गिर पड़ा। इतने में रोमालिका भी आ गई। भेद के खुलने पर शेखरक ने अपने दास को आज्ञा दी कि विदूषक को पकड़कर बाँध लो। इस धर-पकड़ में उस बेचारे ब्राह्मण का यज्ञोपवीत टूट गया।

जामाता जीमूतवाहन का मित्र जानकर सब लोग विदूषक से हास्य करते थे। कभी तो उसे मद्य पिलाने का उद्योग करते थे, कभी पैरों पड़ने के लिये उससे कहते थे, कभी ब्राह्मण का चिह्न यज्ञोपवीत दिखलाने के लिये आग्रह करते थे, और कभी उसके मुँह से वेदऋचा सुनने की इच्छा प्रकट करते थे। बहुत दुःखित होकर विदूषक ने ज्यों ही इस संकट से छुटकारा पाया, त्यों ही स्नान करने के लिये सरोवर का मार्ग पकड़ा।

राह में देखा कि उधर राजपुत्र और मलयवती दूल्हा और दुलहिन के वेष में अपने परिजन के साथ कुसुमाकरोद्यान को जा रहे हैं। यह भी उनमें जा मिला और सबके साथ तमाल-वृक्ष के नीचे बैठा। जीमूतवाहन को अपनी नव-विवाहिता स्त्री का रूप-सौंदर्य वर्णन करते सुन एक चेरी ने विदूषक का वर्णन करना (रँगना) चाहा, और उसकी आँखें बंद कराके तमाल-पत्र-रस से उसका मुख श्यामवर्ण कर दिया। परंतु जब वह कुपित होकर भागा, तो चेरी भी मलयवती को छोड़ उसके पीछे दौड़ी, और इधर वर-दुलहिन का विश्रब्ध आलाप होता रहा। थोड़ी देर में मित्रावसु के आ जाने के कारण मलयवती तो घर चली गई और दोनों राजपुत्र अपने राज-काज की आवश्यक बातें करने लगे।

विवाह-कार्य के समाप्त हो जाने पर मलयवती अपने श्वशुर-कुल को भेज दी गई, और मलयवती की माता ने आज्ञा दी कि दस दिन तक नवीन लाल कपड़े जीमूतवाहन के लिये भेजे जाया करें। एक दिन दोनों राजकुमार समुद्र के किनारे ज्वार-भाटा (वेला) देखने गए। वहाँ पर जीमूत-वाहन ने देखा कि बड़े पर्वत-शिखरों के समान श्वेत वर्ण की ऊँची-ऊँची चोटियाँ हैं। इनका विचार हुआ कि यह मलय-पर्वत के शिखर हैं, जिन पर शरद्-ऋतु के स्वच्छ मेघ छाए हुए हैं; परंतु मित्रावसु ने बतलाया कि यह उन नागों की

हड्डियों का संचय है, जिनको प्रतिदिन एक-एक करके पक्षिराज गरुड़ खा गए हैं। पहले तो गरुड़जी नागलोक में पैठकर प्रतिदिन एक नाग का भक्षण करते थे; परंतु इनके शब्द को सुनकर सहस्रों नागपत्नियों के गर्भ गिर जाते थे और नागों के छोटे-छोटे बच्चे मारे भय के प्राणत्याग कर देते थे। इसलिये नागराज वासुकी ने गरुड़ से कहा कि हम प्रतिदिन एक नाग आपकी सेवा में भेंट किया करेंगे; परंतु आप नागलोक का आना छोड़ दें। यह बात गरुड़जी ने मान ली। तब से प्रतिदिवस एक नाग आकर चिह्न के लिये लाल कपड़े पहनकर वध स्थान में बैठा रहता था और गरुड़जी आकर उसे भक्षण कर जाते थे। उसकी हड्डियाँ रह जाती थीं। इसी प्रकार उस स्थान पर हड्डियों का पर्वत-सा इकट्ठा हो गया था।

गरुड़जी की निर्दयता तथा नागों के विनाश का यह वृत्तांत सुनकर जीमूतवाहन को बड़ा कष्ट हुआ। वह विचारने लगे कि किस प्रकार इस कठिन दुःख से नागों को छुड़ावें। इसी बीच में सिद्धराज विश्वावसु ने अपने पुत्र मित्रावसु को प्रतीहार के द्वारा बुला भेजा, और उसके चले जाने पर जीमूतवाहन को अपने कर्तव्य के सोचने का अच्छा अवसर मिल गया।

यह कोई उपाय सोच ही रहे थे कि किसी स्त्री के विलाप का शब्द सुनाई दिया और थोड़ी ही देर में वह स्त्री अपने

पुत्र को प्रेम से चूमती, चाटती और उसके भावी विनाश पर अत्यंत दुःख प्रकट करती दिखाई दी। यह स्त्री एक नागपत्नी थी, और उसका पुत्र शंखचूर्ण गरुड़जी की भेंट के लिये भेजा गया था। ज्यों-ज्यों गरुड़जी के आने का समय निकट होता जाता था, वह नागपुत्र अपनी माता को संसार की अनित्यता समझाता था; परंतु दीन, एक ही पुत्रवाली वृद्धा को संतोष कैसे हो! वह बारंबार विलाप करती और सिर पटकती थी।

जीमूतवाहन पेड़ की आड़ से यह सब चरित्र देख रहे थे। अब तो उनसे न रहा गया, और झट आकर बीच में खड़े हो गए। नौकर से लाल वस्त्र माँगा और कहा कि इसे पहनकर मैं स्वयं अपना शरीर गरुड़जी के अर्पण करूँगा और शंखचूर्ण के प्राण बचाऊँगा। परंतु यह बात न तो शंखचूर्ण ही को अच्छी लगी और न उसकी माता को। इसलिये उन लोगों ने इन्हें लाल वस्त्र देना स्वीकार न किया। अब तो समय बहुत निकट आ गया, और शंखचूर्ण लाल वस्त्र पहनकर दक्षिण गोकर्णजी की प्रदक्षिणा करने को चला गया।

इधर कंचुकी अपने नियत समय के अनुसार रानी के भेजे हुए लाल वस्त्र लेकर जीमूतवाहन के पास आया। इन वस्त्रों को पाकर वह अत्यंत प्रसन्न हुए और रानी को प्रणाम कहकर कंचुकी को शीघ्र ही लौटा दिया। फिर क्या था!

शीघ्र लाल वस्त्र पहनकर वध शिला पर पहुँच गए और एक जीव के प्राण बचाने के उद्योग पर अपने भाग्य को सराहने लगे।

अपनी माता के समझाने-बुझाने में शंखचूड़ को कुछ विलंब हो गया, और गरुड़जी के आगमन से समुद्र में कराल लहरें उठने लगीं, प्रलय समय के समान पवन चलने लगा और सब जीव-जंतु व्याकुल होकर इधर-उधर भागने लगे। निदान जब गरुड़जी उस शिला पर पहुँच गए और जीमूत-वाहन को अपनी चोंच से पकड़कर मलय-शृंग पर जा बैठे, तो राजकुमार को विश्वास हुआ कि शंखचूड़ की प्राण-रक्षा में अब कोई विघ्न न होगा। उस समय राजपुत्र ईश्वर से यह प्रार्थना करते थे कि जहाँ कहीं दूसरा जन्म हो, वह शरीर भी इसी प्रकार परोपकार में लगे।

परोपकार की इस परा काष्ठा को देख स्वर्गलोक से देवतों ने जीमूतवाहन पर पुष्पवृष्टि की और दुंदुभियाँ बजाईं ; परंतु गरुड़जी को भ्रम हुआ कि मेरे वेग से कल्प-वृक्ष हिल रहे और मेघ शब्द कर रहे हैं।

इधर जब जीमूतवाहन के लौटने में देर हुई, तो महाराज विश्वावसु ने सुनंद-नामक प्रतीहार को महाराज जीमूतकेतु के यहाँ यह देखने को भेजा कि राजपुत्र वहाँ तो नहीं है। जीमूतकेतु का वाम नेत्र पहले ही से फड़क रहा था, जिससे वह महाशंकित थे, और जब सुनंद ने राजपुत्र के पता न मिलने

का वृत्त सुनाया, तो वह और भी अधीर होने लगे। उनको वृद्ध रानी तथा मलयवती को बड़ा शोक हुआ। अभी सुनंद वहाँ से लौटा भी न था कि कोई लाल-लाल वस्तु आकाश से गिरती हुई दिखाई दी और क्षण-मात्र में महाराज के पैरों में आ पड़ी। वह वस्तु रक्त-मांस से भरी एक चूड़ामणि थी, जिसे देख सबको संदेह हुआ कि जीमूतवाहन की चूड़ामणि है। सुनंद ने समझाया कि यहाँ पर बहुत-से नाग मारे जाते हैं, उन्हीं में से किसी की चूड़ामणि होगी। इसलिये बिना अच्छी तरह जाने-बूझे शोक न करना चाहिए। यह कहकर प्रतीहार तो चला गया; परंतु उधर से रक्त वस्त्र पहने शंखचूड़ आया। गोकर्णजी के दर्शन करके वह वध शिला के पास गया, तो उसने जाना कि मेरे आने में देर हुई और जीमूतवाहन ने मेरे रक्षणार्थ अपना शरीर पक्षि-राज को अर्पित कर दिया।

विद्याधर राजपुत्र की अनुपम कृपा का स्मरण कर-करके शंखचूड़ अत्यंत विह्वल हो रहा था। वह चाहता था कि जीमूतवाहन के शरीर से गिरे हुए रक्त-बिंदुओं को देखते-देखते गरुड़जी के पास पहुँच जाऊँ और किसी प्रकार अपने आप को भी उनके अर्पण कर दूँ। शंखचूड़ को इस दशा में जाते देख राजा, रानी और मलयवती आदि को विश्वास हो गया कि इसी की चूड़ामणि है, जिसे किसी मांस के लोभी पक्षी ने सिर से निकाल लिया है। परंतु

जब उससे पूछा, तो उसने अपना सब वृत्तांत गद्गद स्वर से कह सुनाया।

शंखचूड़ यह नहीं जानता था कि यह महापुरुष उस परम उदार राजपुत्र के पिता हैं और यह वृद्धा और युवती उसकी माता और पत्नी। इसके मुख से "हा पुत्र, हा तात, हा वत्स, हा प्राणनाथ" आदि विलाप के शब्द निकलने लगे। अब तो शंखचूड़ पर यह दूसरी विपत्ति आ पड़ी। उसने किसी भाँति उन दुःखित जनों को समझाया-बुझाया, और अंत में यह निश्चित हुआ कि साथ में अग्नि लेते चलो। यदि विद्याधर-पुत्र जानकर गरुड़जी राजपुत्र को छोड़ दें, तो अच्छा; नहीं तो इसी अग्नि से चिता जलाकर सब लोग उसमें कूद पड़ो और शरीर को भस्म कर दो।

शंखचूड़ आगे-आगे दौड़ता हुआ उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ गरुड़जी बैठे हुए विस्मय कर रहे थे कि इस पुरुष को अपने शरीर अर्पित कर देने पर इतना आनंद क्यों है। पूछा कि तुम कौन हो, तो उत्तर दिया कि यह जानने का समय नहीं है, अपना पेट भर लो। इसी बीच में शंखचूड़ ने पुकारा—"गरुड़जी, इन्हें मत खाना; यह विद्याधर राजपुत्र जीमूतवाहन हैं, जिन्होंने दया से मेरे बदले अपना शरीर आपके अर्पण कर दिया है; मुझे खाओ, मैं नागपुत्र हूँ और आपके लिये भेजा गया हूँ।"

गरुड़जी ने अपने इस अनुचित कर्म के प्रायश्चित्त में अपने शरीर को भस्म कर देना चाहा और जीमूतकेतु आदि को अपनी ओर आते देख उनसे अग्नि लेने के लिये ठहर गए। जब वे लोग निकट आ गए, तो जीमूतवाहन ही के कहने से शंखचूड़ ने उसको वस्त्र से ढाँप-सँभालकर बिठा दिया। गरुड़जी ने दूर ही से 'हा पुत्र, हा जीमूतवाहन' आदि प्रलाप सुनकर जान लिया कि ये लोग इस राजपुत्र के माता-पिता आदि हैं, और उड़कर समुद्र के बाड़वानल में जल जाना चाहा। परंतु जीमूतवाहन ने कहा कि आपके पाप का यह प्रायश्चित्त नहीं हो सकता।

माता-पिता को देखकर धीर राजपुत्र ने उठकर प्रणाम करने का उद्योग किया; परंतु शरीर में रक्त न रहने से उठने की शक्ति कहाँ थी, तुरंत ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। उनकी यह दशा देखकर राजा और रानी भी मूर्च्छित हो गए; परंतु गरुड़जी ने अपने पंखों के पवन से राजपुत्र को सचेत किया और राजा आदि को भी शंखचूड़ ने जगाया।

अब जीमूतवाहन ने गरुड़ से कहा कि आपके पाप का प्रायश्चित्त यह है कि आज से कदापि किसी जीव का वध न करिए। गरुड़जी ने इसे मान लिया। राजपुत्र का समय निकट आ गया, आँखें बंद होने लगीं, गात्र अत्यंत शिथिल हो गए और बोलने की भी सामर्थ्य न रही। तब उसने

अपने माता-पिता को अंतिम प्रणाम किया और निश्चेष्ट हो गया।

उस समय के शोक का वर्णन कठिन ही नहीं, वरन् असंभाव है। वृद्ध-अवस्था में ऐसे आज्ञापालक, नवविवाहित एक-मात्र पुत्र का शोक अकथनीय है। परिणाम यह हुआ कि राजा, रानी, मलयवती और शंखचूड़ ने शरीर-त्याग के विचार से चिता में अग्नि लगाकर प्रवेश करने की ज्यों ही इच्छा की, त्यों ही भगवती गौरीजी प्रकट हुईं और उन सबको ऐसे साहसकर्म से रोका। उन्होंने अपने कमंडलु-जल के सेक से जीमूतवाहन को जिलाया।

इसी समय बिना मेघों के आकाश से वृष्टि होने लगी और सबको विस्मित देख गौरीजी ने बतलाया कि मारे पश्चात्ताप के गरुड़जी ने देवलोक से अमृत की वृष्टि की है। इस अमृत-वर्षा के प्रभाव से चिरकाल के मारे हुए नाग, जिनकी हड्डियाँ पर्वत के समान एकत्रित थीं, जीवित हो-होकर और पहले से अधिक बल पा-पाकर समुद्र में घुसने लगे।

भगवती गौरीजी ने अपने कमंडलु के पवित्र जल से जीमूतवाहन का विद्याधरों के चक्रवर्तित्व पर अभिषेक किया। चार दाँतवाला हाथी और श्यामकर्ण घोड़ा तथा रत्नरूप मलयवती देकर अपनी अधिक प्रसन्नता प्रकट की। अन्य वरदान माँगने के लिये जब भगवती ने आज्ञा दी,

तो जीमूतवाहन ने कहा—"यदि आप प्रसन्न हैं, तो समय पर उत्तम वृष्टि हुआ करे; पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण रहे; मनुष्य एक दूसरे से वैर-भाव छोड़कर पुण्य-कार्य करें और अपने बांधवों तथा मित्रों की गोष्ठी का सुख प्राप्त करें।"

इस समय से नाग आनंद से रहने लगे और जीमूतवाहन ने इच्छानुसार वरदान पाकर चिरकाल तक विद्याधरों का चक्रवर्तित्व भोग किया।

मृच्छकटिक

मालव-देश में शिप्रा-नदी के तट पर उज्जयिनी नाम की नगरी थी। वहाँ सार्थपति सागरदत्त के पुत्र चारुदत्त ब्राह्मण का मंदिर था। चारुदत्त पहले बहुत धनाढ्य थे और अपने धन को उत्तम कामों में, दीन-दुखियों की दशा सुधारने में, सज्जनों के पोषण में, अतिथियों के सत्कार में, और मित्रों की भलाई में इतना व्यय किया कि अब अत्यंत दरिद्र हो गए थे। परंतु इस दारिद्र्य में भी चरित्र-शुद्धि-रूप सुंदर रत्न उनके पास था। अब भी औरों को दुःख से छुड़ाने के उपाय, देवतों में दृढ़भक्ति, और अन्य सद्गुण उनके हृदय में वास करते थे। दारिद्र्य में भी वह अपने लिये दुखी नहीं थे—

> बिभवनास चिंता नहीं, भाग भरोसे बित्त;
> अधन जानि त्यागत सबै, यह बिषाद मम चित्त।

लोग भी इनकी महानुभावता और धर्मशीलता पर मोहित-से हो गए थे, यहाँ तक कि अकिंचनत्व की कष्ट-दायक दशा में भी पुरवासी जन इनको 'आर्य चारुदत्त',

'सज्जन चारुदत्त' कहते थे और इनके प्रतिकूल कर्म करने का साहस नहीं करते थे।

उसी नगर में वसंतसेना-नामक अत्यंत स्वरूपवती और यौवन-प्राप्त एक वेश्या रहती थी। इसके धन-समृद्धि की कोई मिति नहीं थी। आठ कोष्ठ का राजदुर्लभ महल इसके पास था; हाथी, घोड़े, रथ, नौकर-चाकर, धन-धान्य, आभूषण आदि किसी वस्तु की कमी नहीं थी।

किसी समय कामदेव उद्यान में चारुदत्त को देखकर वसंतसेना अत्यंत काम-परवश हो गई, और इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं था; क्योंकि चारुदत्त जैसे सज्जन और सुशील थे, वैसे ही सुंदर और सर्व उत्तम लक्षणों से पूर्ण भी। अब रह गया धन का प्रश्न, जिसे वेश्या देवता से भी अधिक पूजती हैं, सो जब भगवान् कुसुमायुध के बाण हृदय को नितरां विद्ध कर देते हैं, तब धन-धान्य की परवा कब रहती है!

उसी दिन से वसंतसेना तो चारुदत्त से मिलने का उपाय सोचती थी, पर चारुदत्त को इस बात का विचार भी न आया था कि हमारे लिये एक युवती को दुःसह दुःख है।

उस समय उज्जयिनी में जो राजा था, उसका श्याल (साला) भी वहीं रहता था। इसका नाम संस्थानक था और 'श' के अधिक उच्चारण के कारण 'शकार' कहलाता था। यह

अत्यंत दुष्ट, मूर्ख, कामी, छैल-चिकनिया, निर्दय और मदांध था। वसंतसेना इसकी दृष्टि में चढ़ गई थी, जिससे इसने बहुमूल्य रत्न और आभूषण उसके पास भेजे। वेश्या की माता भी चाहती थी कि शकार से उसकी बेटी का समागम हो; क्योंकि इससे अपूर्व धनागम की आशा थी। परंतु वसंतसेना के हृदय में चारुदत्त का वास था। वह उस पुरुष-रत्न को छोड़कर जनापसद शकार का आदर क्यों करने लगी।

एक दिन संध्यासमय जब चारुदत्त संध्योपासन करके गृह-देवतों को उपहार देने जाते थे, तो उसी समय उनके मित्र, मैत्रेय ब्राह्मण, और इस नाटक के विदूषक जाती-पुष्पों से वासित वस्त्र लेकर उनके पास पहुँचे और बतलाया कि जूर्णवृद्ध ने यह वस्त्र उनके पास भेजा था। चारुदत्त ने उसे सधन्यवाद ग्रहण किया और अपनी दीन दशा पर बहुत कुछ ताप करके विदूषक से देवतों की बलि चौराहे पर ले जाने के लिये कहा। परंतु विदूषक ने इस मिस से जाना स्वीकार न किया कि बलि देने से देवता प्रसन्न नहीं होते, अन्यथा चारुदत्त दारिद्र्य से पीड़ित क्यों होते। चारुदत्त के समझाने और गृहदासी रदनिका के साथ कर देने पर वह जाने के लिये उद्यत हुए। घोर अंधकार के कारण रदनिका ने दीपक अपने हाथ में ले लिया।

उधर वसंतसेना ने संध्या और अंधकार का अनुकूल

समय जानकर चारुदत्त के घर आने की तैयारी की। परंतु मार्ग में दुष्ट शकार अपने सहायक विट और नौकर को साथ लिए मिल गया। जब विट की अनेक स्निग्ध और शृंगार-सूचक वार्ताओं से, नौकर की अनुनय-पूर्ण प्रार्थनाओं से, और मूर्ख शकार के असंबद्ध प्रलाप से किसी प्रकार वसंतसेना उनके साथ रहने के लिये उद्यत न हुई, तो क्षुद्रबुद्धि शकार ने उसे बलात् पकड़ लेने का निश्चय किया। परंतु सूचिभेद्य अंधकार के कारण कठिनता पड़ी। वसंतसेना ने सुगंधित पुष्पमाला और झंकार करनेवाले भूषण उतार डाले, जिससे शकार को नासिका और कर्ण द्वारा उसका पता न मिल सके। कामी संस्थानक वसंतसेना जानकर कभी विट को और कभी चेट को पकड़ता था। इस दौड़ा-दौड़ी में वे लोग चारुदत्त की खिड़की के पास आ गए, जहाँ रदनिका दीपक लेकर विदूषक के साथ जा रही थी। द्वार से निकलते ही वसंतसेना ने अंचल से दीपक बुझा दिया और स्वयं गृहप्रविष्ट हो गई। इतने में शकार ने रदनिका को पकड़ लिया, परंतु उसके आक्रंदन से विदूषक दंड-काष्ठ लेकर दौड़ा और शकार को ताड़न करने पर उद्यत हुआ। विट ने समझा-बुझाकर विदूषक को निवारण किया और उससे यह विनय की कि यह अज्ञात परिभव वृत्तांत आर्य चारुदत्त से न बतलावे। पर खल शकार कब माननेवाला था! उसने चारुदत्त की दीन दशा पर हास्य करके कहा—

"यदि चारुदत्त अपने हाथ से वसंतसेना को मुझे अर्पण कर दे, तो मैं न्यायसभा में उसके प्रतिकूल कोई व्यवहार नहीं करूँगा और आजन्म उसकी और मेरी दृढ़ मैत्री हो जायगी ; अन्यथा मरणांतिक वैर होगा और चारुदत्त को पूरा बदला देना पड़ेगा।"

इस प्रकार इन सबके चले जाने पर विदूषक ने रदनिका से कह दिया कि इस अपमान का वृत्त चारुदत्त से न बतलावे, अन्यथा उनके दारिद्र्य-रूप क्षत पर क्षार-सा पड़ेगा।

जब तक यहाँ पर झगड़ा होता था, वसंतसेना चारुदत्त के निकट पहुँची, जिन्होंने उसे रदनिका समझकर वह जाती-कुसुम-वासित वस्त्र देकर कहा कि मेरे पुत्र रोहसेन को इस वस्त्र से छादित करके घर के भीतर पहुँचा दो। ऐसे समय में बेचारी वारवनिता यदि कुछ उत्तर देती, तो पहचान ली जाती ; इसलिये वह चुपचाप चली गई। उधर चारुदत्त कुछ उत्तर न पाकर अपने दारिद्र्य पर पश्चात्ताप करने लगे। अंत में विदूषक और रदनिका के लौट आने पर सब भेद खुल गया, और चारुदत्त ने जो विना जाने उसे आज्ञा दी थी, उसके लिये क्षमा माँगी। कामियों का पूरा-पूरा भाव एक दूसरे पर प्रकट हो गया और बुद्धिमती वसंतसेना ने दरिद्र ब्राह्मण की सहायता का अन्य उपाय न देखकर कहा कि ये मेरे आभूषण ही सब पाप का कारण हैं ; इसलिये आप इनको धरोहर के तौर पर अपने घर में रखिए। पहले तो

चारुदत्त को कुछ संदेह था, पर अंत में उन्होंने न्यास स्वीकार कर लिया और स्वयं तथा विदूषक उसे उसके घर पहुँचाकर लौट आए।

चारुदत्त की समृद्धि के समय में उनके पास एक नौकर था, जो पैर दबाता था और जिसे संवाहक कहते थे। दारिद्र्य के कारण चारुदत्त की सेवा छोड़कर वह द्यूत खेलने का व्यसनी हो गया। किसी दिन दस सुवर्ण-मुद्रा हार गया, जिन्हें वह दे न सकता था। इसीलिये दो द्यूतकर उसके पीछे पड़े। किसी प्रकार बचाव न देखकर वह एक शून्य मंदिर में घुसकर देवी के स्थान में बैठ गया। द्यूतकर लोग भी ढूँढते-ढूँढते वहीं आए और उसे प्रस्तर-प्रतिमा मानकर वहीं द्यूतक्रीड़ा करने लगे। अब तो 'कत्ता', 'ढक्का' आदि शब्द सुनकर उससे न रहा गया और कूदकर वहीं आ बैठा। परंतु उन दोनों ने फिर दस सुवर्ण माँगे और न देने पर घसीट-घसीटकर मारने लगे। इसी बीच में दर्दुरक-नामक एक अन्य द्यूतकर आ गया उसने संवाहक को छोड़ देने की प्रार्थना की। परंतु ज्यों-ज्यों वह कहता था, ये लोग और भी संवाहक के शरीर से रुधिरस्राव करते थे। अंत में दर्दुरक ने माथुर द्यूतकर के नेत्रों में धूल डाल दी और इसी बीच में संवाहक वहाँ से भागकर वसंतसेना के घर में घुसा। गिरे हुए रक्त-बिंदुओं को देखते-देखते द्यूतकर लोग भी वसंतसेना के द्वार पर आ खड़े हुए।

घर के भीतर संवाहक ने शरण माँगी और पूछने पर अपना सब वृत्तांत बतलाया। यह भी कहा कि मैं पहले आर्य चारुदत्त का पाद-संवाहक था। चारुदत्त के नाम से वसंतसेना अपना शरीर-पर्यंत अर्पण कर सकती थी। तुरंत दस सुवर्ण-मुद्रा देकर उसे जुआरियों से छुड़ा लिया। इस दुःखदायक घटना से संवाहक का चित्त इतना खिन्न हो गया कि वह रक्त वस्त्र पहनकर उसी दिन से बौद्ध भिक्षु बन गया और नगरी से बाहर रहने लगा।

इसी बीच में खुंडमोटक नाम वसंतसेना का मत्त हाथी छूटकर उज्जयिनी-भर में उपद्रव कर रहा था। उसने एक परिव्राजक को शुंड से उठा लिया और मार डालने ही के समीप था कि कर्णपूरक ने उसे हठात् छुड़ाया। इससे प्रसन्न होकर दरिद्र दशा में भी चारुदत्त ने खिड़की से कर्णपूरक के ऊपर जाती-कुसुम-वासित वस्त्र डाल दिया, जिसे लेकर वह वसंतसेना के यहाँ आया और अपने पराक्रम का हाल कहने लगा। वसंतसेना ने उससे वह वस्त्र लेकर उसे बहुत-सा धन दे दिया।

दूसरे दिन रात्रि के समय चारुदत्त और विदूषक गान-मंडली में गए और अर्द्धरात्रि को गान तथा वाद्य की प्रशंसा करते घर आए। हाथ-पैर धोकर और वासवदत्ता के दिए हुए सुवर्ण-भांड को वर्धमानक नाम सेवक से लेकर सोने लगे। भांड विदूषक के पास रहा। जब ये लोग अच्छी

तरह सो गए, तो शर्विलक-नामक ब्राह्मण चोरी के लिये आया। यह शर्विलक वसंतसेना की एक चेटी मदनिका पर आसक्त था और धन देकर उसे वसंतसेना के दासत्व से छुड़ाना चाहता था। इसके पिता-पितामहादि अच्छे आचारवान् ब्राह्मण थे, पर इसने चौरकला सीखी और काम के फंद में पड़कर दरिद्र ब्राह्मण के यहाँ चोरी करने का साहस किया। अच्छे प्रकार यह देखकर कि भित्ति का कौन भाग जलसेक से शिथिल है, कहाँ पर लोना लगा है और कहाँ पर मूषकों ने खोदा है, संधि काटने पर उद्यत हुआ। कुमार कार्त्तिकेय तथा अपने गुरु का स्मरण करके ज्यों ही अपने कर्म में प्रवृत्त हुआ, त्यों ही प्रमाणसूत्र की आवश्यकता पड़ी। परंतु उसके न होने से उसने यज्ञोपवीत से उसका काम निकाला। संधि काटते समय सर्प ने अँगुली में काट लिया, जिसे उसने यज्ञोपवीत से बाँधकर फिर काम आरंभ किया। भीतर प्रवेश करके जलता हुआ दीपक और सोते हुए दो मनुष्य देखे। उसने विचार किया कि भागने के लिये पहले द्वार खोल लेना चाहिए, परंतु जीर्ण होने से उसमें चूँ-चूँ का शब्द निकलता था, इसलिये उसने उसमें जल छोड़कर खोल दिया। घर में वीणा, वंशी, पुस्तक आदि वस्तुओं के अन्यत् और कुछ न देखकर उसने सिद्ध बीज छोड़े जिससे गड़े हुए धन का पता मिले। पर वहाँ कुछ भी नहीं था।

इसी बीच में विदूषक को उत्स्वप्न होने लगा, उसने कहा।—

"देखो चारुदत्त, तुम्हारे घर में संधि कटी है, चोर पैठा है, अपना सुवर्ण-भांड अपने हाथ में लो।" यह सुनकर शर्विलक को संदेह हुआ; परंतु अंत में यह निश्चय करके कि यथार्थ में विदूषक को उत्स्वप्न हो रहा है और सुवर्ण-भांड उसके हाथ में है, उसके लेने का विचार किया। उसने आग्नेय कीट को छोड़ दिया, जिसने उड़-उड़कर दीपक को निर्वापित कर दिया। तब विदूषक के हाथ से सुवर्ण-भांड लेकर उसने बाहर का मार्ग ग्रहण किया।

इतने में रदनिका की आँख खुली। उसने चोर को जाते देखकर और घर में संधि देखकर विदूषक को जगाया। विदूषक ने चारुदत्त को जगाया, जिसे पहले तो हर्ष हुआ कि चोर रिक्तहस्त नहीं गया; पर जब न्यास का स्मरण हुआ, तो उसका हृदय विदीर्ण-सा हो गया कि अब सच्चरित्र का पालन कठिन काम है।

अब विदूषक ने जाकर यह वृत्तांत चारुदत्त की स्त्री धूता को सुनाया, जिसने अपने पति के सच्चरित्र-पालन के लिये एक अमूल्य रत्नावली दी और कहा कि आर्य चारुदत्त से इसका हाल न बतलाना। विदूषक ने उसे चारुदत्त को दिखाया, जिसने ऐसी स्त्री के पति होने पर अपनी सराहना की और विदूषक को रत्नावली लेकर वसंतसेना के पास भेजा कि मैं तुम्हारे सुवर्ण-भांड को धोखे से जुए में हार गया हूँ। इसलिये उसके बदले यह रत्नावली भेजता हूँ।

विदूषक के पहुँचने से प्रथम ही शर्विलक सुवर्ण-भांड लेकर वसंतसेना के यहाँ पहुँचा। उस समय वसंतसेना अपनी सखी मदनिका के साथ चारुदत्त के विषय में वार्ता कर रही थी और शकार पर अपनी अश्रद्धा प्रकट कर रही थी। उसे शकार के नाम से इतना उद्वेग हुआ कि मदनिका को पंखा लेने के लिये भेजा। जब मदनिका बाहर निकली, तो शर्विलक से भेंट हो गई, जिसने सप्रेम वह सुवर्ण-भांड उसे देकर कहा कि यह आभूषण तुम्हारी स्वामिनी के अंगों की नाप से बने हैं; इन्हें उनके अर्पण कर दो। मदनिका ने कुछ पहचानकर कहा कि यह आभूषण तो वसंतसेना ही के प्रतीत होते हैं, तुम्हें कैसे मिले। पहले तो शर्विलक ने छिपाना चाहा; परंतु उसके अप्रसन्न होने के भय से बतला दिया कि चारुदत्त के यहाँ चोरी में मिले हैं। यह सब वार्ता वसंतसेना आड़ से सुन रही थी। चारुदत्त के घर की चोरी की कथा सुनकर स्त्रियों के हृदय काँपने लगे कि कहीं किसी को चोट न पहुँची हो; परंतु शर्विलक ने बतला दिया कि भय का कोई अवकाश नहीं था।

अब यह चिंता उत्पन्न हुई कि यह आभूषण क्या किए जायँ; यदि चारुदत्त को लौटाले जायँ तो सत्पुरुष होने पर भी वह न्यायसभा में व्यवहार (दावा) आरोपित कर सकता था। इसलिये यह निश्चय हुआ कि शर्विलक यह भांड वसंतसेना को देकर कहे कि चारुदत्त ने न्यास-निर्यातन किया है।

निदान यही किया गया और वसंतसेना ने प्रसन्न होकर मदनिका को शर्विलक के अर्पण करके कहा—आर्य चारुदत्त की आज्ञा है कि जो पुरुष यह भांड लेकर आवे, उसे मदनिका प्रदान कर दी जाय। अत्यंत हर्षित होकर शर्विलक अपनी प्रियतमा को लेकर चला कि गोपालपुत्र आर्यक के पकड़ जाने की ख़बर सुनी। एक सिद्ध ने बतलाया था कि आर्यक उज्जयिनी का राजा होगा, इस भय से वर्तमान पालक राजा ने उसे क़ैद कर लिया। यह आर्यक शर्विलक का मित्र था। इसलिये उसने मदनिका को सवारी पर चढ़ाकर घर भेज दिया और स्वयं मित्र के उद्धार के लिये चला।

उधर से विदूषक रत्नावली लेकर आया और वसंतसेना के एक-एक कोष्ठ को देखता हुआ और उसकी वृद्धा माता पर, जो चिरकाल से चातुर्थिक ज्वर से पीड़ित होने पर भी अत्यंत स्थूल थी, हास्य करता हुआ उस विख्यात वारवनिता के पास पहुँचा और रत्नावली सौंपकर कह दिया कि द्यूत में हारे हुए सुवर्ण-भांड के बदले में यह रत्नावली ग्रहण कीजिए। वसंतसेना ने उसे लेकर चारुदत्त को संदेश भेजा कि मैं संध्याकाल भवद्दर्शनार्थ उपस्थित हूँगी। पर विदूषक के हृदय में उत्कट आशंका थी कि यह वेश्या अपने स्वर्ण-भांड को बहुमूल्य बतलाकर चारुदत्त से और धन लेना चाहती है। जब वसंतसेना आर्य चारुदत्त के पास जाने को

तैयार हुई, तो आकाश मेघाच्छन्न था; मूसलधार वृष्टि होती थी; चपला चमकती थी और मेघध्वनि होती थी; परंतु गाढ़ प्रेम के सामने यह उत्पात कुछ भी नहीं था। उसने बहुत उत्कंठा के साथ, छत्र धारण करके, कामान्धुक चारुदत्त के पास प्रस्थान किया और फूलों से चारुदत्त को ताड़न करती तथा अन्य कामोद्दीपक बातें करती हुई रात्रि के समय अपने प्रणयी के साथ रही। इसी समय उसके कतिपय प्रश्नों से विदूषक ने स्थिर कर लिया कि यह वारवधू केवल अधिक धन लेने के लिये यहाँ आई है।

चारुदत्त ब्रह्मवेला में उठकर जीर्णोद्यान को चले गए और वसंतसेना के लिये आज्ञा दे गए कि पीछे से आवे। प्रभात होते ही चेटी ने वसंतसेना को जगाया, जिसने उठकर वह रत्नावली चेटी के हाथ चारुदत्त की स्त्री धूता के पास भेज दी, परंतु धूता ने उसे स्वीकार न करके फेर दिया। इसी बीच में चारुदत्त के पुत्र को लिए एक मृत्तिका-निर्मित गाड़ी (मृच्छकटिका) से खेलाती हुई,रदनिका आई। उस मुग्ध बालक ने पड़ोसी के बालक को सुवर्ण-निर्मित गाड़ी में खेलते देखकर मृत्तिका-शकट पर अरुचि प्रकट की। तब वसंतसेना ने अपने शरीर से सब स्वर्ण-भूषण निकालकर बालक के लिये स्वर्णशकटिका बनवाने को दे दिए। इसी समय उसके लिये सवारी भी सज्जित हो गई; परंतु वह नेपथ्य-रचना के लिये कुछ ठहर गई और ,रथ हाँकने-

वाला सवारी का बिछौना भूल गया था। इसलिये उसके लिये दौड़ा।

राजश्यालक संस्थानक भी भाग्यवशात् जीर्णोद्यान को गया था और अपने नौकर स्थावरक को पीछे से गाड़ी लाने के लिये कह गया था। परंतु गलियों में अधिक भीड़ के कारण उसकी गाड़ी शीघ्र नहीं जा सकती थी। इसलिये अवकाश देखकर नौकर ने चारुदत्त की वाटिका के फाटक पर गाड़ी खड़ी कर दी। ज्यों ही वसंतसेना बन-ठनकर निकली, सवारी सज्जित देखकर चढ़ गई और स्थावरक ने हाँककर उसे जीर्णोद्यान पहुँचा दिया।

अब चारुदत्त की गाड़ी की कथा सुनिए। हम कह चुके हैं कि आर्यक के पकड़ जाने की प्रवृत्ति सुनकर शर्विलक उसकी सहायता के अर्थ दौड़ा था। वहाँ पर उसने आर्यक की बंदी काटकर बाहर निकाल दिया, और चारों ओर राजभटों की रखवाली होने पर भी आर्यक यथाकथंचित् चारुदत्त की वाटिका तक पहुँचा—उसके एक पैर में अब भी बेड़ी खनखनाती थी, जिसे सुनकर वर्द्धमानक गाड़ीवान ने (जो बिछौना लेकर लौट आया था) जाना कि वेश्या का नूपुर-रव है। निदान आर्यक उस गाड़ी पर चढ़ गया और वर्द्धमानक ने उसे जीर्णोद्यान की ओर हाँका। परंतु राजा की ओर से यह आज्ञा थी कि हर गाड़ी के भीतर देख लो, कदाचित् आर्यक गुप्त रूप से कहीं निकल न जाय। इसलिये चंदनक और

वीरक नाम दो योधाओं ने गाड़ी को रोका। चंदनक ने भीतर देखा, तो आर्यक ने शरण माँगी, जिस पर उसने आज्ञा दे दी कि चले जाओ। परंतु वीरक को इसकी बात पर कुछ संशय हुआ और उसने स्वयं गाड़ी के भीतर देखना चाहा। चंदनक ने उसे न देखने दिया, जिस पर दोनों में गालियों तक की नौबत आई, और अंत में चंदनक ने दूसरे भट की टाँग पकड़-कर घसीट ली, जिससे वह गिर पड़ा। चंदनक ने चिह्न के लिये अपनी तलवार आर्यक को दे दी, जिससे अन्यत्र गाड़ी की जाँच न हो।

इस प्रकार आर्यक जीर्णोद्यान तक पहुँचा, जहाँ चारुदत्त वसंतसेना की प्रतीक्षा कर रहे थे। गाड़ी की घरघराहट से चारुदत्त का हृदय प्रफुल्लित होने लगा। परंतु आर्यक के उतरने पर उन्होंने देखा, यह तो कोई महालक्षण-संयुक्त पुरुष है। आर्यक ने चारुदत्त से शरण माँगी, जिस पर उन्होंने उसकी बेड़ी कटवाकर और फिर अपनी गाड़ी पर चढ़ाकर भेज दिया।

संवाहक के बुद्ध भिक्षु हो जाने का परिचय हम प्रथम ही दे चुके हैं। यह संसार-भावों से खिन्न होकर बस्ती से बाहर रहने लगा, और जिस समय राजश्यालक संस्थानक जीर्णोद्यान को गया, तो इसको स्नान करके वस्त्रक्षालन करते पाया। राजा ने जीर्णोद्यान संस्थानक को दे दिया था। इसलिये उसने उद्यानवापी में स्नान करने के दोष में भिक्षु को घसीट-घसीट-

कर मारा ; पर दयालु विट ने किसी प्रकार उसका जीवन बचाया।

संस्थानक की गाड़ी पर आरूढ़ वसंतसेना भी वहीं पहुँची ; यहाँ पर उसने गाड़ीवान स्थावरक की वाणी सुनकर जाना कि प्रमाद से गाड़ियों का अदल-बदल हो गया है। परंतु अब क्या हो सकता था ; सिंह के पंजे में मृगी पड़ गई। बेचारे विट ने उसकी प्राणरक्षा के कतिपय उपाय सोचे, पर एक भी सफल न हुआ।

पहले तो संस्थानक ने वसंतसेना के मिलने पर बड़ा हर्ष प्रकट किया और नम्रता दिखलाई ; पर उसकी अस्वीकृति से और पादप्रहार के अपमान से इस दुष्ट ने स्त्रीहत्या का व्यवसाय किया। विट तथा चेट से क्रमशः हत्या करने के लिये कहा ; पर उन्होंने निर्भर्त्सन के अतिरिक्त अन्य उत्तर न दिया। अंत में इस पापी ने असत्य प्रेम प्रकट करके विट की वंचना कर दी, जिससे विश्रब्ध होकर वह चला गया। अवकाश पाकर इसने वसंतसेना को गला दबाकर मार डाला ; मृत्यु के समय चारुदत्त-संबंधी जो-जो आर्त वचन इसने कहे, वे हृदयद्रावी थे।

इस नृशंस कर्म के उपरांत उसने आभूषण देकर चेट को मिलाना चाहा ; पर नीच-से-नीच पुरुष भी ऐसे क्रूर कर्म का भागग्राही नहीं होना चाहता है, उसने 'नहीं' कर दी। इस पर शकार ने उसे बँधुआ करके अपने मंदिर में बंद

करवा दिया। विट ने इस निंद्य कर्म पर घृणा प्रकट की; पर उसे भी कूट न्याय व्यवहार का डर दिखाकर निवृत्त कर दिया; और संदेह दूर करने के लिये शुष्क पत्तियों की राशि वसंतसेना के मृतवत् शरीर पर डाल दी।

उधर संवाहक भिक्षु जब उठने को समर्थ हुआ, तो उसने अपना गीला वस्त्र उसी शुष्क पर्णराशि पर फैला दिया। शीतल वस्त्र के प्रभाव से वसंतसेना ने, जिसके प्राण किसी चक्र में ठहर गए थे, अपना हाथ फैलाया। भिक्षु ने हाथ पहचानकर उसे पत्तियों से निकाला और तत्क्षण अन्य जल के अभाव से अपना आर्द्र वस्त्र उसके मुँह में निचोड़ा। निदान वसंतसेना फिर जीवित हो गई और भिक्षु ने उसे धीरे-धीरे ले जाकर अपनी धर्मभगिनी के पास कर दिया।

साहसी संस्थानक ने निश्चय कर लिया कि इस नृशंस कर्म में चारुदत्त को फँसाना चाहिए। अतः अधिकरणिक के आने से भी प्रथम वह न्यायालय में जाकर बैठा और सबसे पहले व्यवहार आरोपित किया। लोग इसके दर्शन से इतनी घृणा करते थे कि न्यायाधीश ने भी इसका मुख देखकर उस दिन की आगामिनी बुराई का अनुमान कर लिया। परंतु राजश्यालक होने के कारण उन्हें उसका व्यवहार सुनना ही पड़ा। शकार ने अपने जीर्णोद्यान जाने, एक स्त्री का मृतक शरीर पाने, वसंतसेना को पहचानने, और आभरणशून्य शरीर से धनार्थ वध किए जाने के अनुमान करने

का वर्णन किया। उसके वर्णन से वसंतसेना की वृद्धा माता पर व्यवहार का अवलंबन किया गया और वह अनुद्विग्न बुलाई गई। उसने अपनी दुहिता के चारुदत्त के घर जाने का हाल बतलाया। इस वर्णन से शकार मारे हर्ष के फूला नहीं समाता था।

अब चारुदत्त का आह्वान हुआ ; ज्यों ही अदोष चारुदत्त घर से निकले अशकुन-पर-अशकुन होने लगे—वाम नेत्र फड़कता था ; सूर्य की ओर मुख करके शुष्क वृक्ष पर रूक्ष स्वर से काक बोलता था ; मार्ग में सुप्त सर्प पड़ा था ; पैर लड़खड़ाता था, और अधिकरण-मंडप में प्रवेश करते समय शिर में चोट लगी। इनके देखते ही न्यायाधीश ने जान लिया कि यह अदोष है ; पर व्यवहारानुसार इनका वर्णन लिया गया। इन्होंने कहा कि वसंतसेना और मुझमें प्रीति है, वह मेरे घर आई थी और मेरी अनुपस्थिति में अपने घर लौट गई।

इतने में वीरक आया, जिसको चंदनक ने लात मारी थी। उसने आर्य चारुदत्त की सवारी में पर्दे के भीतर वसंतसेना के जीर्णोद्यान जाने का हाल, तथा चंदनक से अपने अपमान का हाल बतलाया। अब तो चारुदत्त पर संदेह होने लगा, ठीक बात जानने के लिये वीरक घोड़े पर सवार करके जीर्णोद्यान भेजा गया और वहाँ से लौटकर उसने श्वापदों से नोचे हुए एक स्त्रीशरीर की प्रवृत्ति कही। अब संदेह और दृढ़ हो

गया, जिसका वृद्धा वेश्या और चारुदत्त के बहुत कुछ कहने पर भी निवृत्ति न हुई ।

पहले कहा जा चुका है कि जीर्णोद्यान चलते समय वसंतसेना ने अपने स्वर्णाभरण उतारकर रोहसेन को स्वर्ण-शकट बनवा देने को दिए थे। परंतु जब चारुदत्त उद्यान से लौटे, तो उन्होंने कुल आभरण विदूषक के हाथ वसंतसेना के घर भेज दिए, और जब विदूषक वह बहुमूल्य गठरी काँख में दबाए जा रहा था, तो उसने चारुदत्त के न्यायालय जाने का वृत्त सुना। वह तुरंत ही न्यायालय पहुँचकर और अपने मित्र की दुःख-दशा देखकर शकार से वाद-प्रतिवाद करने लगा। दंड उठ गए, और इसी मार-धड़ के समय वह स्वर्णमयी पोटली काँख से गिर पड़ी, जिसे शकार ने बड़े हर्ष से उठा लिया। वृद्धा वेश्या ने तो आभूषणों की बात छिपानी चाही; पर ऋजु चारुदत्त ने सत्यव्रत न छोड़ा। निदान चारुदत्त पर दोषारोपण किया गया और अविवेकी राजा पालक के यहाँ से आज्ञा मिली कि जिन आभरणों के लिये चारुदत्त ने ऐसा दुष्कर्म किया है, वही आभरण गले में लटकाकर दक्षिण श्मशान में वे शूल पर चढ़ाए जायँ और डिंडिम से घोषणा कर दी जाय।

राजाज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है, चारुदत्त के शरीर में रक्त चंदन की पंचांगुली दे, करवीर पुष्पों की माला पहनाकर दो चांडाल राजमार्ग से लोगों को हटाते

दक्षिण दिशा को ले चले। यज्ञजल से पवित्रित शरीर की यह दशा और अकृत दोष का यह दंड देखकर आर्य चारुदत्त को जो मानसी व्यथा थी, उसका वर्णन कैसे हो सकता है। समग्र नगरी के नर-नारीगण शोक-समुद्र में मग्न होते-से झुंड-के-झुंड चारुदत्त के दर्शनार्थ आते थे, और चांडाल भी दयाशून्य नहीं थे परंतु निष्करुण शकार को पुत्रोत्सव से भी अधिक मोद था।

मार्ग में मैत्रेय विदूषक चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को लाकर मिले और चांडालों ने पुत्रमुख-दर्शन की आज्ञा दे दी। निरुपाय बालक फूट-फूटकर रोता था और पिता के बदले अपना जीवन देने पर उद्यत था। मार्ग में बीच-बीच नगाड़ा बजाया जाता था और चारुदत्त-कृत अपराध की घोषणा की जाती थी।

उधर शकार ने अपने चेट स्थावरक को बाँध कोठे पर बंद कर दिया कि कहीं गुप्त रहस्य न खुल जाय। जब चेट ने घोषणा सुनी, तो उससे न रहा गया। बेचारे ने बहुत कुछ पुकारा; पर उस कोलाहल में उसका शब्द कैसे सुनाई देता। अंत में अपने प्राणों पर खेलकर वह बेड़ी समेत कोठे पर से कूद पड़ा। नीचे गिरने के धक्के से बेड़ी टूट गई और वह दौड़ता, अवकाश माँगता, चिल्लाता, हाँफता उस अन्याय-पूर्ण दृश्य तक पहुँचा। उसने शकार की दुष्टता का सब वृत्त बतला दिया; पर उसी समय शकार के आ

जाने से उस बेचारे की बात का कुछ भी गौरव न माना गया। किंतु शकार ने सपुत्र चारुदत्त के वध का उपाय गाँठा। इसी भय से चारुदत्त ने विदूषक से कहा कि पुत्र को सकुशल घर पर छोड़ आओ।

दक्षिण दिशा का श्मशान आ गया, जिसे देख चारुदत्त को कराल उद्वेग हुआ। अब चांडालों में यह विवाद होने लगा कि वध करने के लिये किसकी बारी है। एक ने कहा कि वध्य को शीघ्र न मारना चाहिए, कदाचित् नृप-परिवर्तन हो, या राजा के पुत्र हो, या अन्य किसी कारण से बच जाने का अवकाश मिल जाय। निदान उनका विवाद पट गया और चारुदत्त से कहा गया कि जिसको चाहो, स्मरण कर लो ; समय निकट आ रहा है। उन्होंने प्रथम धर्म और सत्य का, तब वसंतसेना का स्मरण किया।

उस समय वसंतसेना कहाँ थी ? सुनिए जब उसका चित्त स्वस्थ हुआ, तो भिक्षु से कहा कि मुझे चारुदत्त के घर पहुँचा दो ; और जब वेश्या और भिक्षु राजमार्ग पर जाते थे, तो इतना जनसमूह देखकर कुतूहलवशात् उसी ओर से निकले। घोषणा सुनते ही दोनों के प्राण शुष्क-से हो गए और अत्यंत शीघ्रता के साथ दौड़ते और हटाते वहाँ पहुँचे।

वहाँ पर चांडाल ने घात करने के लिये तलवार उठाई, तो हाथ से छूट पड़ी, जिससे उसने जान लिया कि चारुदत्त का संकट कट जायगा। अब चारुदत्त को शूल पर चढ़ाने जाते

थे कि भिक्षु वसंतसेना ने दोहाई पुकारी। इसको देखते ही चांडाल लोग चारुदत्त को छोड़कर राजा से हाल बतलाने गए और चारुदत्त तथा वसंतसेना प्रेम से एक दूसरे को आलिंगन करके मिले।

इसी बीच में शर्विलक की सहायता से गोपाल-दारक आर्यक ने पालक राजा को मार राज्य छीन लिया। और इस बात की ख़बर देने तथा उन्हें बंधन से छुड़ाने के लिये शर्विलक चारुदत्त के पास आया।

अब शकार की दुष्टता का फल उदय हुआ। राजपुरुष मुश्कें चढ़ाए हुए उसे लेकर उपस्थित हुए, और उसके दंड की कठिनता चारुदत्त की इच्छा पर निर्भर की गई। नीच शकार ने उस आर्य पुरुष के चरणों पर गिरकर शरण माँगी और दयालु सार्थवाह ने मुक्तकंठ होकर अभय दे दिया। शर्विलक तथा इतर जनों की इच्छा थी कि शकार को मृत्युदंड दिया जाय, पर चारुदत्त ने उसे पहले के-से अधिकार दिलाकर मुक्त करा दिया। धन्य आर्य चारुदत्त, धन्य!

चारुदत्त की स्त्री धूता ने अपने पति का अमंगल-वृत्त सुनकर अग्नि में प्रवेश करने का व्यवसाय किया, जिसका वृत्त चंदनक ने आकर कहा। चारुदत्त व वसंतसेना आदि सब दौड़ते हुए पहुँचे और धूता अग्नि की ज्वालाओं में प्रविष्ट होने ही पर थी कि इन लोगों ने उसे निवारण किया।

वसंतसेना और धूता बहनों की तरह मिलीं और नए राजा आर्यक ने वसंतसेना का वधू-शब्द से आदर किया।

संवाहक भिक्षु का संसार से विराग देखकर चारुदत्त ने उसे सब विहारों (बौद्धमठों) का कुलपति बनवाया। स्थावरक चेट दास वृत्ति से मुक्त हुआ। चांडाल लोग अपने कुल के अधिपति किए गए। चंदनक संपूर्ण राज्य का दंडपालक नियत हुआ। अंत में चारुदत्त ने अपने दुःख दूर होने पर परमेश्वर का धन्यवाद करके सर्व संसार के सुख के हेतु प्रार्थना की।

वेणीसंहार

हस्तिनापुर में कुरुकुल के राजाओं की राजधानी थी। इस कुल में धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर तीन भाई हुए। धृतराष्ट्र जन्मांध थे। इनका विवाह गांधार-देश की राजकुमारी गांधारी से हुआ: और दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र हुए। पांडु के दो स्त्रियाँ थीं, एक कुंती, जिससे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तीन पुत्र थे; दूसरी माद्री, जिससे नकुल और सहदेव-नामक दो पुत्र हुए। विदुर दासी के पुत्र थे। इसलिये राज्य पर उनका अधिकार न था। वे केवल प्रधान मंत्री के पद पर नियत किए गए।

पांडु राजा थे। इनकी अकाल मृत्यु से राज्य में झगड़ा हुआ। धृतराष्ट्र के पुत्र, जो कौरव कहलाते थे राज्य अपने लिये चाहते थे, और पांडु के पुत्र, जो पांडव कहलाते थे, अपनी पैतृक संपत्ति नहीं छोड़ते थे। निदान दुर्योधन ने द्यूतक्रीड़ा में छल से पांडवों का सर्वस्व जीत लिया, यहाँ तक कि द्यूत की उत्सुकता में पांडवों ने अपनी स्त्री द्रौपदी को भी दाँव पर लगा दिया। इसमें भी कौरवों की जीत

हुई। अब दुर्योधन ने भरी सभा में भाई दुःशासन को आज्ञा दी कि द्रौपदी को वस्त्ररहित करके मेरी जंघा पर बिठाल दो। बड़े-बड़े प्रतापी महाराज व पाँचो भाई पांडव यह अनीति देखते रहे, परंतु परमेश्वर ने किसी प्रकार अनाथ द्रौपदी की लज्जा ऐसे कुसमय में रख ली।

अब पांडव अकिंचन हो गए, और यह निश्चय किया गया कि यह लोग बारह वर्ष-पर्यंत वनवास करें और हस्तिनापुर के राज्यमंडल में कहीं न दिखाई दें। इतने ही पर कष्ट की इतिश्री नहीं हुई, किंतु इन लोगों के उन्मूलन के लिये दुर्योधन लाखों उपाय करता था ; छल से इन्हें लाक्षा-निर्मित भवन में रखकर अग्नि लगवा दी, भोजन के साथ विष मिलाकर खिलाने की चेष्टा की। दुःखी पांडव एक वन से दूसरे वन को, और एक राज्य से दूसरे राज्य को जाते थे, कुछ समय तक अर्जुन को स्त्री-वेष में रहना पड़ा और उन राजकुमारों को अन्य शतशः कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। परंतु वे धर्म-पथ से कभी च्युत नहीं हुए और अनुकूल समय की प्रतीक्षा करते रहे। वनवास की अवधि व्यतीत होने पर उन्होंने अपनी जीविका के लिये राज्य का कुछ भाग दुर्योधन से माँगा, परंतु अभिमानी कौरव ने कुछ भी देना स्वीकार न किया।

तब पांडवों ने अन्य राजाओं से सहायता माँगी ; और भगवान् कृष्ण ने सहायता देने का वचन दिया। कृष्णजी

की भगिनी सुभद्रा अर्जुन से ब्याही थीं, इससे और नीति-पालन के विचार से श्रीकृष्णजी ने कौरवों और पांडवों से मेल कराना चाहा और पांडवों की जीविका के लिये पाँच गाँव माँगे। मदांध दुर्योधन की बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। उसने एक भी न सुनी, प्रत्युत सर्वसामर्थ्य-युक्त भगवान् कृष्ण को बँधुवा करना चाहा। यह असंभवित था। कृष्णजी ने अपना लोकोत्तम पराक्रम और तेज दिखलाकर उससे छुट्टी पाई।

अब सब उपाय निष्फल हो गए और वीर पांडवों का दबा हुआ क्रोध प्रज्वलित हुआ। सबसे अधिक कोप भीम को था। उन्होंने पहले ही प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों को नष्ट करूँगा। जैसे क्षत पर क्षार लगता है, उसी प्रकार अपमान-दग्ध हृदय पर शत्रु के कड़वे वचन लगते हैं। एक दिन द्रौपदी गांधारी के दर्शन के लिये गई थी; लौटते समय दुर्योधन की रानी भानुमती से भेंट हो गई। भानुमती में ऐसा ही मान था, जैसा उसके पति में था। इसलिये चित्त दुखाने के हेतु उसने द्रौपदी से पूछा कि क्या तुम अब भी अपने बालों की ग्रंथि (वेणी) नहीं बाँधती हो। यह वचन उग्र था; क्योंकि राजसभा में जूड़ा खोल दिए जाने का स्मरण दिलाता था। द्रौपदी की चेरी ने उचित उत्तर दिया कि जब तक तुम्हारी वेणी नहीं खुलेगी अर्थात् जब तक तुम विधवा नहीं होगी, तब तक द्रौपदी का जूड़ा नहीं बँधेगा।

बदला लेने का एक-मात्र उपाय संग्राम था। देश-देश के महाराज कोई इस पक्ष में आए, कोई उस पक्ष में। दुर्योधन की ओर आबाल-ब्रह्मचारी भीष्मपितामह, अस्त्र-शस्त्रों के आचार्य द्रोण, उनके पुत्र अश्वत्थामा, सिंधुराज जयद्रथ, कर्ण आदि बड़े-बड़े वीर थे; श्रीकृष्णजी युधिष्ठिर की ओर थे। युद्ध के लिये भीमसेन की इतनी प्रबल आकांक्षा थी कि संधि करने का उद्योग उन्हें विषवत् लगता था; वे अपने बाहु-बल के भरोसे कहते थे—

रोष करि संगर सत कौरव मथि डारौं क्यों न,
फारि उर रुधिर दुसासन सों अघाऊँ मैं;
पाँच गाँव पाय क्यों करत संधि धरमराज,
बड़े-बड़े वीरन की वीरता भुलाऊँ मैं।

इस पर भी द्रौपदी की उत्तेजक बातें क्रोध को और प्रचंड करती थीं। वेणी बाँधने के विषय में यह निश्चय था—

चंचल दुचंड भुजडंड सों भ्रमाय गदा,
गाज सों दुयोधन की जंघ में जमाऊँ मैं;
धारा सम धरधरात धारि रक्त हाथ महि,
वेणी बाँधि वैर अग्नि बिकट बुझाऊँ मैं।

उधर कौरव भी युद्ध के लिये सज्जित थे। दुर्योधन को अपने सौ भाइयों तथा अमित सेना का बड़ा घमंड था। वह पांडवों को इतना हीनबल समझता था कि लड़ाई छिड़ जाने पर भी अपने अंतःपुर में आनंद से समय बिताता था।

परंतु स्त्रियों का हृदय कच्चा होता है, इसकी रानी भानुमती ने स्वप्न देखा कि एक नकुल ने सौ सर्पों का वध कर डाला है, और अपने हाथ से रानी का वस्त्र खींच लिया है। इस स्वप्न से उसे बड़ी शंका उत्पन्न हुई और अमंगल मेटने के लिये वह भगवान् सूर्य की उपासना कर रही थी कि दुर्योधन भी पहुँच गया और अपने बल-पराक्रम की गर्व-पूर्ण बातें सुनाने लगा।

युद्ध का प्रारंभ हो ही गया था, उस दिन अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि यदि आज सिंधु के राजा जयद्रथ को नष्ट न कर दूँ, तो फिर अस्त्र ग्रहण न करूँगा। इस प्रतिज्ञा से घबड़ाई हुई जयद्रथ की माता दुर्योधन के पास आई, जिसने अपने दर्पसूचक प्रलाप में अर्जुन को तृणवत् बतलाकर स्वयं रणभूमि में जाने का विचार किया।

अर्जुन की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। उन्होंने सिंधुराज को जुझा दिया; और भी बड़े-बड़े वीर दोनों ओर से मारे गए, भीम का पुत्र घटोत्कच, अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, भगदत्त, द्रुपदराज, भूरिश्रवा, सोमदत्त, बाह्लीकराज आदि सब काम आए। सहस्रों मनुष्य, घोड़े, हाथी आदि सब कट गए, और राक्षस, बैताल, डाकिनी आदि बीभत्स रूप से रक्त, मांस, मज्जा में फिर-फिरकर तृप्त हो गए।

वीराग्रणी भीष्मपितामह ने अपने सेनापतित्व के दिन बिताकर बाणशय्या ग्रहण की। दोनों कुलों के अस्त्रगुरु

द्रोणाचार्य की मृत्यु भी विचित्र रीति से हुई। उनका विचार था कि महाभारत में सहस्रशः राजाओं के नाश से कोई बड़ा राज्य अपने पुत्र अश्वत्थामा को दिला देंगे और लोगों पर यह भी विदित था कि वह बड़े पुत्रस्नेही हैं। अतः जब उनके अस्त्रों से पांडवी सेना विकल हो रही थी, तो पांडवों ने अश्वत्थामा हाथी को मारकर घोषणा कर दी कि अश्वत्थामा मारे गए। द्रोणाचार्य को विश्वास नहीं हुआ कि ऐसे पराक्रमी वीर को कोई मार सकता है; इस पर सत्यवादी युधिष्ठिर से कहलाया गया; उन्होंने स्फुट रूप से कहा—"अश्वत्थामा हतः" और इसके पीछे धीरे से कहा—"नरो वा कुंजरो वा।" सुनते ही द्रोण का धैर्य छूट गया। उन्होंने अस्त्र त्याग कर दिया; जिस पर पांचालराज के पुत्र धृष्टद्युम्न ने उनके केश पकड़कर संग्रामभूमि में घसीटा और खड्ग से वध कर दिया। आचार्य के गिरते ही कौरवी सेना तितर-बितर हो गई; और कर्ण आदि बड़े-बड़े वीर भी लड़ाई से चल दिए।

हाथ में खड्ग लेकर दूसरी ओर से अश्वत्थामा आए, और पांडवी दल की दशा देखकर ललकारने लगे—

अस्त्र को कराल ज्वाल बिकल बिहाल सत्रु-
सेना है समुद्र तामें बड़वा की अग्नि ज्यों;
पिता द्रोण सेनापति साजिके सरासनहि,
सम्मुख समर सत्रु नासै भय त्यागि त्यों।

काहे कदरात कृप करण करत क्यों धौं,
कीर्ति कमनीय को कलुष सब भागि यों;
लेहु-लेहु धाश्रो पांडु-पुत्रन जुझाश्रो अरु,
अर्पहु सरीर नहिं बीर रस पागि क्यों।

इस पर भी किसी का साहस नहीं पड़ता था कि आगे बढ़े। कुछ दूर चलकर अश्वत्थामा को ज्ञात हुआ कि पृथ्वी द्रोणाचार्य से रहित हो गई। इससे उन्हें महामोह उत्पन्न हुआ। सचेत होकर झूठे वचन पर पिता के शस्त्र त्याग करने का वृत्त जाना और धृष्टद्युम्न-कृत अपमान की कथा सुनी। अब इनके शोक और क्रोध की सीमा नहीं थी। पिता के वीरत्व और निज-विषयक प्रीति का स्मरण कर-करके फूट-फूटकर रोते थे। दुर्योधन के साहस पर, युधिष्ठिर के असत्य वचन पर और धृष्टद्युम्न की कादरता पर कठोर वचन कहते थे। इसी समय इनके मातुल कृपाचार्य भी आ गए। उन्होंने समझा-बुझाकर शोक की हानि और क्रोधाग्नि की वृद्धि की। अश्वत्थामा ने प्रथम तो स्वयं अस्त्र-त्याग का निश्चय किया था; पर उसे फिर उठाया और पांडवों के नष्ट कर देने की विभीषिका दिखाई। परंतु विना राजा दुर्योधन की आज्ञा के संग्राम करना अच्छा नहीं था। इसलिये कृपाचार्य ने अश्वत्थामा को सेनापति बनाने के अर्थ दुर्योधन के हाथ से अभिषेक कराने का निश्चय किया।

दुर्योधन ने इससे प्रथम ही कर्ण को सेनापति बनाने का

वचन दे रक्खा था। इसलिये बातों-ही-बातों अश्वत्थामा और कर्ण में विवाद बढ़ गया। अश्वत्थामा कर्ण की नीच उत्पत्ति का उपालंभ करते थे और अपने पिता की व अपनी वीरता की विकत्थना करते थे—

जे-जे धारत सस्त्र आज निज भुजबल माते ;
जे-जे पांडव सेन माहिं बीरत्व दिखाते।
जे-जे बालक जरठ युवा पांचाल-बंस में ;
जे-जे साखी रहे, सोइ करणी नृसंस में।
जे-जे संगर माँझ बीर प्रतिकूल करहिं मम ;
क्रोध अंध तिन, तिनहिं आज संहरौं कालसम।

कर्ण इनकी आत्मश्लाघा पर हँसता हुआ और द्रोण पर भी अवीरत्व का दोष धरता हुआ कहता था—

सूत पुत्र वा सूत वा, दसा छीन वा पीन ;
पूर्ब कर्म बस जन्म मम, पौरुष आत्म अधीन।

अब अश्वत्थामा ने कोप करके झपटकर कर्ण के सिर पर लात मारकर चुनौती दी, इस पर दोनों के खड्ग चमकने लगे ; परंतु दुर्योधन तथा कृपाचार्य ने वीरों को पकड़कर बीच-बराव कर दिया। अश्वत्थामा ने प्रतिज्ञा की कि जब तक संग्राम में कर्ण लड़ेगा, तब तक मैं अस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा।

उधर भीमसेन ने प्रतिज्ञा की थी कि दुःशासन के हृदय का रक्त पान करूँगा ; इस बीभत्स रस के पूर्ण करने के लिये भीम की स्त्री हिडिंबा ने एक राक्षस को आज्ञा दी थी कि

जिस समय दुःशासन मारा जाय, तुम भीम के शरीर में प्रविष्ट हो जाना, जिससे रक्त पीने में घृणा न उत्पन्न हो सके और प्रतिज्ञा पूर्ण हो।

वह समय आया। कर्ण और दुर्योधन ने दुःशासन को बहुत बचाना चाहा; परंतु भीमसेन ने अपना प्रण पूरा ही कर लिया। इस महाघोर युद्ध में अर्जुन ने दुर्योधन को मूर्च्छित कर दिया और उसके प्राण बचाने के लिये सारथी उसे टूटे रथ पर दूर भगा ले गया। मूर्च्छा दूर होने पर दुर्योधन फिर रण-भूमि को जाना चाहता था; परंतु दुःशासन की मृत्यु का वृत्त सुनकर हताश हो गया और विलाप करने लगा।

युद्ध में कोई कमी नहीं थी। दुःशासन-बध सुनकर कर्ण ने भीम का सामना किया; महाघोर युद्ध होता था कि भाई की सहायता के लिये अर्जुन भी आए। इन दो भाइयों को अकेले कर्ण से लड़ते देख उसके पुत्र कुमार वृषसेन ने अपनी वीरता दिखाई। अब भीम और कर्ण से तथा अर्जुन और वृषसेन से अपूर्व युद्ध होने लगा। वृषसेन के घोड़े, रथ, सारथी आदि मारे गए; परंतु जब तक वह दूसरे रथ पर चढ़े, तब तक वीर कर्ण दोनों भाइयों से लड़ता रहा। फिर एक बार वृषसेन ने ऐसा अपूर्व युद्ध किया, जिसके देखने के लिये कर्ण और भीम ने अपना युद्ध बंद कर दिया। अर्जुन की चलाई हुई अमोघ शक्ति के भी कुमार ने तीन खंड कर डाले।

इस पर क्रोध करके अर्जुन ने उसके मारने के लिये प्रतिज्ञा की और कर्ण को शपथ दिलाया कि अब तुम अपने पुत्र की रक्षा करो। पिता-पुत्र ने बड़ा संग्राम किया; परंतु अर्जुन ने दोनों को बाणों से ढक दिया और वृषसेन का वध किया। इस पर कर्ण का धैर्य छूट गया। उसने युद्ध में प्राण देने का निश्चय करके रक्त से दुर्योधन को एक चिट्ठी लिख कर सुंदरक के हाथ भेजी, और स्वयं लोमहर्षण-युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

युद्ध का विवरण बतलाने और पत्र देने के लिये सुंदरक सिपाही दुर्योधन को ढूँढ़ता था। उसे कहीं अनेक घायल वीर बाण निकलवाते, पट्टी बँधाते मिलते थे, कहीं मृतक सैनिकों के शोक में चिता में पैठती स्त्रियाँ और माताएँ दृष्टिगोचर होती थीं, कहीं सवारों से शून्य घोड़े इधर-उधर दौड़ते थे। बड़ी कठिनता से दुर्योधन के पास पहुँचकर सुंदरक ने सब कथा सुनाई, जिससे उसका शोक और भी शतगुण हो गया।

दुर्योधन की इसी कष्टदायक दशा में उसके पिता धृतराष्ट्र और माता गांधारी का आगमन हुआ। इन लोगों ने तथा इनके साथी संजय ने और सूत ने दुर्योधन को बहुत समझाया कि ९९ भाइयों के मारे जाने पर और द्रोण-भीष्मादि महारथियों के जूझ जाने पर युद्ध करना उचित नहीं है। इसलिये विदुर आदि मंत्रियों से अनुमति लेकर पांडवों से संधि कर लो और उन्हें राज्य का कुछ भाग दे दो; क्योंकि

अब इस वंश का एक-मात्र अंकुर तुम्हीं हो ; तुम्हारे ऊपर यदि विपत्ति आई, तो वृद्ध माता-पिता का पूछनेवाला कोई न रहेगा, और कुरुवंश का दीपक बुझ जायगा ; पांडव लोगों ने कृष्ण की सहायता से असंभाव्य कर्म किया है और अब तुम्हारे जय की आशा नहीं है ।

दुर्योधन को संधि का मंत्र अच्छा न लगा । उसने कहा—"युधिष्ठिर ने प्रतिज्ञा की है कि यदि पाँच भाइयों में एक भी मारा जायगा, तो मैं अपने प्राण दे दूँगा । मेरे ९९ भाई मारे गए हैं, अब मैं क्योंकर संधि कर सकता हूँ । मैं अपने बाहु-बल से पृथ्वी को पांडव-रहित करके अपना भी शरीर त्याग करूँगा और वृद्ध पिता को फिर संसार का अधिराज बनाऊँगा ।"

इसी बीच में हाहाकार उठा । जिस समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धँस गया और वह उसे निकालने लगा, तभी अर्जुन ने अपने बाणों से उसके प्राण हर लिए । इस वृत्तांत से दुर्योधन का हृदय दहल गया ; वह कर्ण को अपने भाइयों से अधिक मानता था, और इसी मान के दिखलाने के लिये उसे अंग-देश का राजा बनाया था । उसकी मृत्यु से कौरवी सेना अनाथ हो गई । फिर भी धृतराष्ट्र आदि के समझाने पर दुर्योधन की श्रद्धा संधि करने में नहीं हुई ; केवल युद्ध द्वारा बदला लेने का निश्चय था ।

सब बड़े-बड़े वीरों के नष्ट हो जाने पर भीम और अर्जुन के सामने ठहरनेवाला कोई नहीं मिलता था ; अतः वे रथ पर

चढ़कर दुर्योधन की खोज में निकले। यहाँ पर धृतराष्ट्र और गांधारी को प्रणाम करके और अपना बाहु-बल जनाकर इन वीरों ने दुर्योधन से युद्ध माँगा; परंतु जब तक वह तैयार होकर बाहर निकले, तब तक युधिष्ठिर की आज्ञा से घोषणा कर दी गई कि सूर्यास्त हो जाने के कारण युद्ध बंद किया जाय।

भाइयों, मित्रों और सहायकों के विनाश से दुर्योधन का चित्त खिन्न हो गया था; उसके मन में क्रोधाग्नि ऐसी प्रज्वलित थी कि विना पांडवों का नाश किए वह किसी को अपना मुख नहीं दिखाना चाहता था। वह जलस्तंभनी-विद्या जानता था। इसलिये रण-भूमि से कुछ दूर पर एक जलाशय के भीतर घुसकर विश्राम करने लगा। यहाँ अर्जुन और भीम उसे न पाकर घबराते थे; क्योंकि विना उसके नाश के भीम की प्रतिज्ञा नहीं पूर्ण हो सकती थी। युधिष्ठिर महाराज ने अपने चरों को आज्ञा दी कि वनों, पर्वतों, जलाशयों और बस्तियों में दुर्योधन खोज करें। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते किसी चर ने देखा कि जलाशय के किनारे कीचड़ में राजलक्षण-युक्त पैरों के चिह्न बने हैं; यह चिह्न जाने के समय के थे; परंतु लौटने के नहीं थे। इससे निश्चय किया गया कि दुर्योधन वहीं पर था। भीम ने पैठकर सकल जलाशय का आलोड़न कर डाला, परंतु उसका पता न चला; तब उत्तेजक वाक्यों का प्रयोग किया गया और अल्प काल ही में दुर्योधन अपनी विशाल गदा लेकर निकला। जिधर दृष्टि जाती थी, उधर कोई सहायक नहीं

था। इससे उसका चित्त उदास-सा हो गया। भीम ने सोचा, यदि मेरे बल का स्मरण करके अपने बांधवों के नाश पर दुःखी होकर कदाचित् दुर्योधन युद्ध से हाथ उठावे या संधि की इच्छा करे, या वन में जाकर तपस्या का व्यवसाय करे, तो मेरी प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी। अतः उन्होंने कहा कि हम पाँच भाइयों में जिससे चाहो, उससे युद्ध कर लो। दुर्योधन भी वीर था और अपना परिणाम जान ही चुका था, इसलिये उसने ९९ भाइयों के मारनेवाले भीम ही से गदा-युद्ध माँगा।

यह महाभारत का अंतिम युद्ध था। इसलिये दोनों वीरों में से किसी ने भी कुछ कसर न रक्खी और घोर युद्ध हुआ। श्रीकृष्णजी भी वहीं थे, जिन्होंने पंचालक को युधिष्ठिर के पास भेजा कि शीघ्र ही शत्रु को मारकर भीमसेन वहाँ आवेंगे। इसलिये उनके स्वागत-सत्कार की सामग्री एकत्रित रहे और राज्याभिषेक का पूर्ण संभार उपस्थित रहे। भगवान् कृष्ण की आज्ञा से सब प्रबंध होने लगा और युधिष्ठिर आदि भीम की प्रतीक्षा करने लगे।

दुर्योधन की यह कष्टप्राय दशा देखकर उसके एक पुराने मित्र चार्वाक-नामक राक्षस ने अपनी कूट-नीति का व्यवहार किया। वह मुनि के वेष में अत्यंत पिपासा के मिस से युधिष्ठिर के यहाँ पहुँचा और पानी की पुकार करने लगा। युधिष्ठिर और द्रौपदी ने बड़े सत्कार से उसे जल पिलाया और क्लम का कारण पूछा। उसने कहा, मैं मुनि हूँ, युद्ध देखने के

कुतूहल से समंत पंचक को गया था; जहाँ अर्जुन और दुर्योधन से गदा-युद्ध होता था। अर्जुन का नाम सुनते ही सब लोग विस्मित हो गए; क्योंकि श्रीकृष्णजी ने पहले कहला भेजा था कि भीम से युद्ध होता है। कपटी मुनि ने विस्मित लोगों को बुरा-भला कहकर और अपनी सत्यता को दृढ़ करके फिर कहा कि हाँ, पहले तो भीम और दुर्योधन से गदा-युद्ध हुआ, जिसमें श्रीकृष्णजी के बड़े भाई बलरामजी आ गए और अपने शिष्य दुर्योधन को आड़ से ऐसा संकेत दे दिया कि उसने भीम का वध कर डाला। इस पर श्रीकृष्णजी ने संधि कराने की इच्छा की; परंतु वीर अर्जुन से भाई का शोक न सहा गया और उन्होंने गांडीव-धनुष छोड़कर भीम की गदा उठाई; दुर्योधन से फिर घोर युद्ध होने लगा; और बलरामजी फिर कुछ संकेत करनेवाले थे कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को रथ पर बिठालकर द्वारकापुरी में कर दिया।

इस कपट-वार्ता को सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर, देवी द्रौपदी और परिजनों का धैर्य छूट गया। युधिष्ठिरजी ने इच्छा की कि स्वयं दुर्योधन से युद्ध करके अपने प्राण दे देवें; परंतु दुष्ट राक्षस ने कहा कि अब प्रतिज्ञानुसार प्राण ही देने हैं और शत्रु पर विजय पाने से भी कोई लाभ नहीं, तो युद्ध व्यर्थ है; आप यहीं पर अपने प्राण दे सकते हैं और पतिव्रता द्रौपदी भी यहीं पर सती हो सकती है। यह मंत्र सबके मन भाया और चिता में प्रवेश करने का उद्योग होने लगा। उस समय

का दुःख अकथनीय था; जिस भीमसेन ने अपने बाहुबल से कीचक, बक, हिडिंब, जरासंध आदि को मारा था, धृतराष्ट्र के एकोनशत पुत्रों का नाश किया था, लाक्षागृह की विपत्ति से बचाया था और महाभारत में ऐसा अतुल पराक्रम दिखाया था, उस गदाप्रिय, दृढ़व्रत वीर पुरुष का अभाव क्योंकर न दुःखदायी हो। युधिष्ठिर और द्रौपदी की दशा देखकर धैर्य का भी धैर्य छूट जाता था और दुःख को भी दुःख होता था, औरों की क्या गणना है!

किसी नौकर-चाकर में ऐसा साहस नहीं था कि ईंधन एकत्रित करके उसमें अग्नि लगावे। अतः धर्मराज स्वयं ही इस काम में लगे और तैयार हो जाने पर परिजनों को उपदेश करने लगे। उन्होंने नकुल-सहदेव को संदेश भेजा, द्रौपदी ने सुभद्रा आदि सपत्नियों को संदेश भेजा कि अवशिष्ट राज्य और प्रजा आदि की रक्षा अच्छे प्रकार करें।

समय निकट ही था कि दुष्ट राक्षस-कृत अनर्थ सफल हो और राजा-रानी अग्नि में प्रवेश करें, जब किसी ओर से शंख-ध्वनि का महाकोलाहल सुनाई दिया। अनुमान किया गया कि कदाचित् दुर्योधन ने अर्जुन पर विजय पाई हो, इसलिये चिता-प्रवेश का व्यापार शीघ्र ही करना चाहिए। युधिष्ठिर ने हाथ-पैर धोकर पितरों को जल दिया और द्रौपदी से भी दिलाया। अब अग्नि में प्रवेश करनेवाले ही थे कि युधिष्ठिर की दक्षिण आँख फड़कने लगी; कहाँ वह

कष्ट, और कहाँ ऐसे शुभ शकुन का होना ; धर्मराज इसका कारण सोचने लगे कि एक महाकाय पुरुष, रक्त में भरा हुआ, हाथ में गदा धरे और 'पांचाली-पांचाली' पुकारता हुआ अतिवेग से उसी ओर आता देख पड़ा। इसे देख सबको भय उत्पन्न हुआ कि दुर्योधन है और पहले से भी अधिक अपमान करने के लिये द्रौपदी को खोजता है। अब किसी का धैर्य ठीक न रहा। कंचुकी ने कहा कि भीम की प्रतिज्ञा की बात अब नहीं हो सकती। इसलिये अग्नि-प्रवेश से पहले द्रौपदी के केश संयमित कर दिए जायँ ; परंतु युधिष्ठिर ने उसका निषेध कर दिया ; क्योंकि वे धर्मवीर ही नहीं थे, किंतु युद्धवीर भी थे। पहले भी उन्होंने शल्य को मारकर अपने बल का परिचय दिया था ; और इस समय शीघ्रता के कारण धनुष-बाण न पाकर निरायुध ही दौड़े और उस भयानक पुरुष को पकड़कर अग्नि में फेंक देना चाहा।

यह रौद्र-रस-पूर्ण पुरुष भीमसेन के अतिरिक्त और कोई नहीं था ; शत्रु दुर्योधन को गदा-प्रहारों से मारकर और उसका रक्त शरीर-भर में लेपे हुए वे द्रौपदी की वेणी बाँधने के लिये दौड़े आ रहे थे। उस समय युधिष्ठिर को ऐसा क्रोधावेग था कि भीमसेन का वचन भी नहीं सुनते थे ; परंतु अन्य लोगों ने भीम को पहचाना और किसी प्रकार युधिष्ठिर को बतलाया, जिन्होंने हर्ष से भीमसेन को गले लगाकर छोड़ दिया कि द्रौपदी की वेणी बाँधकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करें।

भीमसेन ने दुर्योधन के आर्द्र रक्त से द्रौपदी की वेणी बाँधकर कहा—

जेहि दुःसासन नृप-सभा, पसु सम खींचे चीर ;
तासु रुधिर मैं पान करि, लेपेउँ सकल सरीर।
फारि सुयोधन जंघ कों, तासु रक्त लै हाथ ;
बाँधि द्रौपदी बेनिका, ता कहँ करहुँ सनाथ।
यक बेनी बाँधन हित, सत बेनी छुट जात ;
सत्रु-जनित क्रोधाग्नि यह, आज सु सकल सिरात।

अब श्रीकृष्ण और अर्जुन भी आए और राजा युधिष्ठिर को विजय पर बधाई देने लगे। उस चार्वाक राक्षस को मार-कर नकुल आए। उसी समय व्यास, वाल्मीकि आदि मुनि; धृष्टद्युम्न आदि सेनापति और मगध आदि देशों के राजा संपूर्ण मंगल-सामग्री और राज्याभिषेक का संभार लेकर आए और विधि-पूर्वक धर्मराज युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया गया।

जगत्पति कृष्ण ने अन्य वरदान माँगने के लिये भी युधिष्ठिर से कहा, जिन्होंने यह माँगा और पाया—

पुरुपायुध सब जियहिं जन, रोग दुःख करि दूर ;
पुरुषोत्तम-पद-कमल महँ, भक्ति सदा भरपूर।
पंडित पढ़ि बिद्या सकल, हर्षित करहिं समाज ;
राजचक्र कहँ साधिकै, भूपति सुकृत बिराज।

मुद्राराक्षस

पूर्व काल में भारतवर्ष में मगध-राज्य एक बड़ा भारी जनस्थान था। इस देश की राजधानी पाटलीपुत्र अथवा पुष्पपुर (पटना) थी, जहाँ महानंद-नामक प्रतापी राजा राज्य करता था। इसके आठ या नव पुत्र थे, जो पिता को मिलाकर या वैसे ही नवनंद कहलाते थे। इसी राजा के एक पुत्र मुरा नाम शूद्रा से था, जो मौर्य या चंद्रगुप्त कहलाता था। वह बड़ा बुद्धिमान, बलवान् और दृढ़संकल्प था और हर बात में अपने भाइयों से बढ़-चढ़कर था। इसीलिये नंद लोग इससे भीतरी द्वेष रखते थे, और महानंद भी अपने औरस पुत्रों का पक्ष करके इससे कुढ़ता था। यह यद्यपि शूद्रा के गर्भ से था; परंतु ज्येष्ठ होने के कारण अपनेको राज्य का भागी समझता था। इस कारण राज-परिवार से और भी अधिक इसका वैमनस्य था।

एक दिन चंद्रगुप्त ने देखा कि एक ब्राह्मण अपनी कुटी के सामने मार्ग के कुश उखाड़-उखाड़कर उनकी जड़ों में मट्ठा डालता जाता है, जिससे उनका मूल भी नष्ट हो जाय।

पूछने पर उसने बतलाया कि मेरा नाम विष्णुगुप्त चाणक्य है; मैं ज्योतिष और नीति आदि विद्या पढ़कर नगर की ओर जाता था, किंतु पैर में कुश गड़ जाने से मेरे मनोरथ में विघ्न पड़ा; इसलिये जब तक शत्रुरूप कुशों का सर्व-नाश न कर लूँगा, और काम न करूँगा।

ऐसे क्रोधी और नीतिज्ञ ब्राह्मण को देखकर चंद्रगुप्त ने सोचा—यदि यह किसी प्रकार नंद लोगों पर कोप करे, तो उनको निर्मूल कर दे और मेरा काम बने। इसलिये चंद्रगुप्त ने अपना संपूर्ण वृत्तांत विष्णुगुप्त से बताकर उसे अपना पक्षपाती बना लिया। ब्राह्मण ने प्रतिज्ञा की कि तुमको मैं राज्य दिलाऊँगा।

नगर में आकर बुभुक्षित विष्णुगुप्त चाणक्य राजा की भोजनशाला में घुसकर सबसे उत्तम स्थान पर बैठ गया। नंद लोगों ने ब्राह्मणत्व और अतिथित्व पर कुछ विचार न किया और निरादर-पूर्वक उसे आसन से पकड़कर बाहर निकलवा दिया। उस समय क्रोध से अंध होकर चाणक्य ब्राह्मण ने अपनी शिखा खोल दी और तीव्र प्रतिज्ञा की कि इस अपमान के बदले जब तक नंद-वंश का क्षय न कर दूँगा, तब तक शिखा न बाँधूँगा। यह कहकर वह बाहर चला आया, और मूढ़हृदय नंदों ने इस बात की कुछ भी परवा न की।

समय पाकर चाणक्य ने एक दासी के द्वारा नंदों को विष

खिलवाकर समाप्त कर दिया, और किसी-किसी के अनुसार उसने शस्त्र द्वारा स्वयं महानंद और उसके पुत्रों का वध कर डाला। जो कुछ हो, नंदों का विनाश हो गया; तब नंद-वंश के सच्चे सेवक और योग्य मंत्री राक्षस-नामक ब्राह्मण ने महानंद के भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बिठा दिया।

अब चाणक्य को चिंता हुई कि नवीन राजा को हटाकर चंद्रगुप्त को राजगद्दी क्योंकर दिलाऊँ, इस आशय से अपने परम मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक या बौद्धभिक्षु के वेष में छोड़कर वह स्वयं राजा लोगों की सहायता लेने के लिये विदेश निकला, और कंधार के समीप से पर्वतक-नामक एक लोभी राजा को सेना सहित बुला लाया। उससे यह नियत कर लिया कि जीतने के पीछे मगध-देश का आधा राज्य तुमको दिलाऊँगा। इस पर्वतक राजा के भाई का नाम वैरोधक और पुत्र का मलयकेतु था, और भी पाँच म्लेच्छ राजाओं को पर्वतक अपनी सहायता के लिये लाया था।

अब चाणक्य ने पर्वतक की सेना लेकर कुसुमपुर या पटना चारों ओर से घेर लिया। पंद्रह दिन के घोर युद्ध में राजा के सैनिक और नगरवासी लोग लड़ते-लड़ते शिथिल हो गए। इसी समय जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थसिद्धि गुप्त रीति से वन को चला गया। इस घटना से मंत्री राक्षस बहुत उदास हुआ और चंदनदास-नामक एक बड़े

धनी सेठ के घर में अपने कुटुंब को छोड़कर और शकटदास कायस्थ आदि कई नीतिज्ञ मित्रों को राज्य का भार सौंपकर राजा के फेर लाने के लिये स्वयं भी वन को गया।

चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब सुनकर राक्षस के पहुँचने के पहले ही अपने मनुष्यों से राजा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला और राक्षस के पास मंत्रीत्व स्वीकार करने का संदेश भेजा, परंतु उसने स्वीकार न किया; किंतु पर्वतक के राज्य में जाकर बूढ़े मंत्री को फुसलाया कि चाणक्य बड़ा छली है, वह तुम्हारे राजा को मगध-देश का आधा राज्य न देगा। यदि राजा मुझसे मिले, तो मैं सब राज्य दिला दूँ। इस पर वृद्ध मंत्री ने पत्र द्वारा राजा पर्वतक को समझाया, जिससे राक्षस को गुप्त रीति से अपना मुख्य अमात्य बनाकर वह केवल ऊपरी दिखाव के लिये चाणक्य से मिला रहा।

इस प्रकार पर्वतक और कुलूत आदि के अन्य पाँच राजाओं से सहारा पाकर राक्षस ने चंद्रगुप्त के मारने के लिये एक विषकन्या भेजी और अपना विश्वासपात्र समझकर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब बात जानकर और पर्वतक की धूर्तता तथा विश्वास-घातकता से कुढ़कर प्रकट में इस उपहार को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया और लानेवाले को बहुत-सा पुरस्कार देकर बिदा किया। संध्या होते ही

चाणक्य ने यह कन्या पर्वतक के पास बहुमान दर्शनार्थ भेज दी, और पर्वतक उस कन्या के संग से रात को मर गया।

अब चाणक्य ने सोचा कि पर्वतक का पुत्र मलयकेतु नगर में रहेगा, तो उसे राज्य का हिस्सा देना पड़ेगा। इसलिये उसने भागुरायण-नामक एक प्रतिष्ठित विश्वासपात्र पुरुष को मलयकेतु के पास सिखा-पढ़ाकर भेज दिया। भागुरायण ने उसी रात के पिछले समय मलयकेतु को भर दिया कि चाणक्य ने आपके पिता को विषकन्या के प्रयोग से मरवा डाला और अवसर पाकर आपको भी मरवा डालेगा। बेचारे मलयकेतु ने पिता की शय्या देखी, तो बात सच्ची पाई ; अत्यंत भयविह्वल होकर उसी रात को वह छिपकर नगर से निकल गया और बाहर वन में राक्षस से मिल गया। चाणक्य के सिखाए भद्रभट आदि चंद्रगुप्त के बड़े-बड़े अधिकारी प्रकट में राजद्रोही बनकर मलयकेतु और भागुरायण के साथ ही भाग गए।

अब चाणक्य और राक्षस की नीति की चोटें परस्पर पड़ने लगीं। चाणक्य चाहता था कि जिस प्रकार हो सके, राक्षस को पकड़कर उसे चंद्रगुप्त का मंत्री बनाऊँ और सत्यता की शपथ ले लूँ। राक्षस चाहता था कि चंद्रगुप्त और चाणक्य को नाश करके नंदवंश का बदला लूँ।

चाणक्य ने जिन चरों को राज-विरोधियों का पता लगाने को भेजा था, उनमें से एक योगी के वेष में पता लगाकर

लौटा। उसने तीन राज-विरोधियों के नाम बताए—जीव-सिद्धि-नामक क्षपणक, शकटदास कायस्थ और चंदनदास सेठ, जिसके यहाँ राक्षस का कुटुंब रहता था। इनमें से जीव-सिद्धि तो चाणक्य ही का भेजा हुआ था और इस बात के प्रसिद्ध करने के लिये घूमता था कि मैंने राक्षस की आज्ञा से पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग किया है। शकटदास कायस्थ के छलने के लिये चाणक्य ने अपने विश्वासपात्र सिद्धार्थक को उसके पास भेजा था, जिसने बड़ी गहरी कपट-मित्रता कर ली थी। रहा चंदनदास, उसके वश करने का भी उपाय निकल आया; क्योंकि इसी दूत को उसके घर में राक्षस की मोहर लगाने की अँगूठी मिल गई थी। जिस समय यह योगी के वेष में चंदनदास के घर गया था, उस समय राक्षस का छोटा बच्चा बाहर निकल आया था; और उसके पकड़ने के लिये राक्षस की स्त्री ने परदे के भीतर से हाथ निकाला था। इसी खींच-खाँच में स्त्री के हाथ से अँगूठी गिर गई थी, जिसे दूत ने उठाकर चाणक्य के सामने उप-स्थित किया।

अब क्या था। चाणक्य को एक हथियार मिल गया; उसने तुरंत सिद्धार्थक के द्वारा शकटदास कायस्थ के हाथ से एक चिट्ठी लिखवाई और उस पर राक्षस की मोहर लगाकर सिद्धार्थक ही को सौंपकर उसका आगामी काम बतला दिया।

अब चाणक्य ने चंद्रगुप्त के पास यह संदेश कहला भेजा कि तुम प्रकट रूप से पर्वतेश्वर के मित्र रहे हो। इसलिये उसके नाश हो जाने पर उसकी क्रिया करो और उसके आभरण योग्य दानपात्र ब्राह्मणों को दे दो ; ब्राह्मण मैं स्वयं चुनकर भेजूँगा। फिर चाणक्य ने कोतवाल के पास संदेश भेजा कि जीवसिद्धि क्षपणक ने राक्षस के कहने से विषकन्या प्रयोग करके पर्वतेश्वर को मार डाला है। इसलिये उसे नगर से अपमान-पूर्वक निकाल दें और शकटदास को इस अपराध पर शूली दिला दें कि वह राक्षस के कहने से नित्य हम लोगों की बुराई करता है। कोतवाल के संदेह से पहले ही चाणक्य ने सिद्धार्थक को शूली देनेवालों के पास भेजकर साध लिया कि इशारा पाकर वे लोग शकटदास को छोड़ दें, जिससे वह जाकर राक्षस से मिले।

इधर जीवसिद्धि और शकटदास के साथ ऊपर कहा हुआ तिरस्कार हो रहा था, उधर चाणक्य ने चंदनदास को बुलाकर आदर-पूर्वक बिठाया और उससे कहा, तुम राक्षस का कुटुंब हमको सौंप दो। पहले तो चंदनदास ने झूठा हीला-हवाला किया ; परंतु चाणक्य के अधिक आग्रह करने पर वह बदल बैठा और कहने लगा, राक्षस का कुटुंब आपके हवाले कदापि नहीं करूँगा। आप मुझे जो दंड चाहें, दें। इस पर चाणक्य ने आज्ञा दी कि चंदनदास का सारा धन लूट लिया जाय और वह कारागार में बंद कर दिया

जाय ; पीछे से चंद्रगुप्त की आज्ञा से उसे वधदंड दिया जायगा ।

चाणक्य को कार्य-सिद्धि का पूरा भरोसा हो गया ; क्योंकि चंदनदास के समान सच्चे मित्र को आपत्ति से छुड़ाने और उसके उपकार का बदला देने के लिये राक्षस अवश्य ही चंद्रगुप्त का वशवर्ती हो जायगा । दूसरे कार्य की भी सिद्धि होने लगी ; क्योंकि शकटदास को शूली पर से उतारकर सिद्धार्थक भगा ले गया ।

उधर राक्षस भी चुपचाप नहीं बैठा था ; उसने चंद्रगुप्त के विरुद्ध बड़े-बड़े कपट-उपाय रच रक्खे थे ; परंतु चाणक्य ने सब निष्फल कर दिए । राक्षस ने चंद्रगुप्त के मारने के लिये जो विषकन्या भेजी थी, उसके द्वारा पर्वतेश्वर की मृत्यु का वृत्तांत पहले ही कहा गया है । इसके उपरांत राक्षस ने अपने कारीगर दारुवर्मा को भेजा कि पटने के राजमहल में कोई ऐसा यंत्र लगाओ, जिससे गृहप्रवेश के समय चंद्रगुप्त पर भारी तोरण गिरा दिया जाय । इसके अतिरिक्त उसने बर्बर-नामक एक विश्वासपात्र को सोने की छड़ी में गुप्ती कटार लेकर भेजा कि चंद्रगुप्त को मारे । इन लोगों ने बड़ी सावधानी से अपनी-अपनी तैयारी की ।

जिस रात्रि को गृहप्रवेश होनेवाला था, उसी दिन चाणक्य ने घोषणा कर दी कि पटने का आधा राज्य, जो पर्वतेश्वर के लिये कहा गया था, उसके भाई वैरोधक को मिलेगा ।

गृहप्रवेश से कुछ पहले वैरोधक और चंद्रगुप्त एक ही राज-सिंहासन पर बिठाए गए, और राज्य का आधा-आधा भाग करके वैरोधक को मोतियों का कवच, रत्नजटित मुकुट, फूलों की मालाएँ आदि पहनाई गईं ; और उसे चंद्रगुप्त की हथिनी पर बिठाकर बड़ी शीघ्रता से राजमहल में उसका प्रवेश कराया गया। आभूषणों के कारण किसी ने उसे पहचाना भी नहीं, और दारुवर्मा ने उसे चंद्रगुप्त जानकर ऊपर से तोरण गिरा दिया। वह तो बच गया ; परंतु बर्बर उस तोरण से चूर हो गया। जब दारुवर्मा ने देखा कि उद्योग निष्फल हुआ, और इसके बदले में मृत्युदंड अवश्य मिलेगा, तो ऊपर ही से लोहमयी कील उसने फेंककर मारी, जिससे वैरोधक मृतक हो गया। नौकर-चाकरों ने यह पापकर्म देखकर दारुवर्मा को वहीं मार डाला।

राक्षस ने अभयदत्त-नामक वैद्य को साध दिया था कि अवसर पाकर चंद्रगुप्त को विष पिला दे। उसने औषध के साथ विष मिलाकर दिया ; परंतु चाणक्य ने देखा कि औषध के कारण सुवर्णपात्र का रंग बदल गया है, इसलिये उसने वही औषध उसी वैद्य को पिलाई, जिससे वह समाप्त हो गया।

चंद्रगुप्त के शयन-गृह के प्रबंधकर्ता प्रमोदक को राक्षस ने बड़ा धन देकर साध दिया था कि समय पाकर राजा को मार डाले। उसने इस धन से इतना ठाट-बाट फैलाया कि

चाणक्य चौकन्ना हो गया और उसके उलटे-सीधे उत्तरों से पूरा संदेह करके उसे बुरी चाल से मरवा डाला।

राक्षस ने कुछ वीर राजमहल के सुरंग में छिपा दिए थे कि सोते समय चंद्रगुप्त का वध कर डालें। परंतु चाणक्य ने उस घर में भात के सीथ लाती हुई चींटियों को देखकर ताड़ लिया कि कहीं पर शत्रु के मनुष्य छिपे हैं। बस, यह निश्चय करके उसने घर में आग लगवा दी, जिससे सब-के-सब वहीं जलकर क्षार हो गए।

इधर चाणक्य की कपट-नीति से सिद्धार्थक ने शकटदास को शूली पर से उतारकर भगा दिया था। कुछ समय पीछे ये लोग राक्षस के पास पहुँचे, जिसने मित्र शकटदास के बच जाने पर बड़ा हर्ष किया और सिद्धार्थक को अपना विश्वासपात्र बनाकर अपने शरीर से वही सब आभूषण उतारकर उसे दे दिए, जो कुमार मलयकेतु ने उसके (राक्षस के) लिये भेजे थे। सिद्धार्थक ने इन आभूषणों की एक पोटली बनाकर उस पर राक्षस की मुद्रा से मोहर लगाई और उसे राक्षस ही के पास धरोहर की रीति से रख दिया। स्मरण रहे, यह वही मुद्रा थी, जो चाणक्य ने इसे सौंपी थी। राक्षस ने अपनी मुद्रा पहचानकर उसे शकटदास को दिया।

जब इन सब प्रयत्नों के निष्फल होने का हाल राक्षस को मिला, तो उसे बड़ा शोक हुआ। अब केवल एक उपाय रह गया था कि चंद्रगुप्त और चाणक्य में बिगाड़ कराया जाय।

इस काम के लिये राक्षस ने अपने गुप्त भाट भेजे कि चाणक्य के आज्ञाभंगादिकों के कवित्त बना-बनाकर चंद्रगुप्त को उत्तेजित करते रहें और जो कुछ काम हो जाय, वह दूत द्वारा कहला भेजें।

यहाँ चाणक्य ने पहले ही सोच रक्खा था कि बाहरी दिखावे के लिये कुछ दिन मुझमें और चंद्रगुप्त में फूट हो जानी चाहिए, जिससे राक्षस का पूरा मंतव्य प्रकाशित हो जाय। इसलिये उसने चंद्रगुप्त को सब कारण समझा दिया। अब कौमुदी-महोत्सव का समय आया और चंद्रगुप्त ने आज्ञा दी कि नगर सुसज्जित किया जाय और लोग हर्ष मनावें। चाणक्य ने निषेध कर दिया कि कौमुदी-महोत्सव न हो। इस पर कुपित होकर चंद्रगुप्त ने चाणक्य को बुलाया और बहुत कड़ी-कड़ी बातें कहकर उसका एक प्रकार का अपमान किया : कहा कि आपने मेरे साथ कोई भलाई नहीं की। राजनीति की जितनी चेष्टाएँ आपने कीं, वे सब व्यर्थ और दोष-पूर्ण हैं ; और राक्षस मंत्री हर प्रकार आपसे श्रेष्ठ है। चंद्रगुप्त ने यहाँ तक कह डाला कि अब मैं राज्य-प्रबंध अपने हाथ में लूँगा और आपको कुछ भी अधिकार न रह जायगा।

यह सब बातें कपट की थीं ; यद्यपि चाणक्य की गुप्त आज्ञा ही से चंद्रगुप्त ऐसी-ऐसी कठोर बातें कहता था, तथापि चाणक्य की धमकी को सुनकर मन में सोचता था कि कहीं यह यथार्थ में तो मुझसे क्रुद्ध नहीं हो गए। ऐसा

अवसर पाकर राक्षस के भेजे हुए भाट भी उत्तेजक कविताएँ पढ़ते थे, जैसे—

केवल बहु गहना पहिरि, राजा होय न कोय;
जाकी नहिं आज्ञा टरै, सो नृप तुम सम होय।

राक्षस के दूत तो लगे ही थे, सब बातें उनके कान तक पहुँचीं। उधर भागुरायण और भद्रभट आदि चाणक्य के सच्चे पक्षपाती, जो आचार्य की आज्ञा से कपट करके शत्रु-पक्ष में मिल गए थे, और अपने को मलयकेतु का विश्वास-पात्र बना लिया था, अपनी-अपनी कपट-क्रिया करने लगे। भागुरायण ने अच्छी तरह मलयकेतु के हृदय में जमा दिया कि राक्षस चंद्रगुप्त का विरोधी नहीं है, किंतु चाणक्य का विरोधी है, और जिस समय चाणक्य निकल जायगा, उस समय राक्षस चंद्रगुप्त का मंत्रीत्व करेगा, क्योंकि चंद्रगुप्त नंद-वंशीय ही है और राक्षस की भक्ति उस वंश से कदापि दूर नहीं हो सकती। भद्रभट आदि लोगों ने मलयकेतु के यहाँ नौकरी कर ली थी और अपनेको पूरा विश्वासपात्र बनाकर हाथी, घोड़े, सेना, कोष आदि सब अपनी ही मुट्ठी में कर लिया था।

जिस समय एक दूत राक्षस से पटने का वृत्तांत बतला रहा था, उस समय मलयकेतु और भागुरायण बाहर खड़े सब संवाद सुन रहे थे। यदि किसी बात में कुछ संदेह होता था, तो भागुरायण उसे इस प्रकार मलयकेतु को सम-

भाता था कि उसे राक्षस की असत्यता पर दृढ़ता होती जाती थी। चंद्रगुप्त ने जो राक्षस की प्रशंसा की थी कि वह चाणक्य से बढ़कर है, उसका हाल दूत के मुख से सुनकर मलयकेतु को और भी विश्वास हो गया कि चाणक्य के चले जाने पर राक्षस चंद्रगुप्त का मंत्री बन जायगा।

इस दूत के चले जाने पर मलयकेतु ने राक्षस से वार्तालाप किया, जिसमें राक्षस तो साधारण रीति से आगामी सिद्धि की आशा करता था; परंतु मलयकेतु दूसरा ही अर्थ लगाता था; क्योंकि उसके मन में भागुरायण आदि ने गाँठ डाल दी थी।

यह वैमनस्य रहने पर भी पटना-नगर पर आक्रमण करने की तैयारी की गई और बड़ी भारी सेना इस काम के लिये चली। भागुरायण ने मलयकेतु से आज्ञा दिलाई कि कोई भी पुरुष विना भागुरायण की मोहर के कटक से बाहर न जाय, और यदि जाने की चेष्टा करे, तो दंड पावे। इस प्रकार की मोहर लेने के लिये जीवसिद्धि क्षपणक, जो चाणक्य का विश्वासी भेदिया था, भागुरायण के पास आया और दो-चार बातें करके क्रम से कहने लगा—"मेरा जीवन निष्फलप्राय है; क्योंकि राक्षस ने मेरे ही द्वारा विषकन्या का प्रयोग कराके पर्वतेश्वर को मरवा डाला; और इसी अपराध पर चाणक्य ने मुझे नगर से अपमान-पूर्वक निकलवा दिया।" यह सुनकर भागुरायण ने कहा—"चलकर यही वृत्तांत कुमार मलयकेतु को सुनाओ।" इन लोगों को जाना

भी नहीं पड़ा ; क्योंकि मलयकेतु खड़ा हुआ बाहर से सब वृत्तांत सुन रहा था।

अब मलयकेतु का पूरा विश्वास हो गया कि उसके पिता पर्वतक की मृत्यु राक्षस ही द्वारा हुई थी। इसी कारण वह राक्षस के विरुद्ध उपाय सोचने लगा। इधर चाणक्य ने भागुरायण से कह रक्खा था कि राक्षस के प्राणों पर कोई विपत्ति न पड़ने पावे। इसलिये भागुरायण ने मलयकेतु को समझा दिया कि राक्षस आपका स्वाभाविक वैरी नहीं है ; किंतु कार्यवश उसने ऐसा विरुद्ध आचरण किया है।

अभी मलयकेतु बैठा ही हुआ था कि सिद्धार्थक पकड़-कर भागुरायण के पास लाया गया। वह हाथ में एक बंद चिट्ठी और बग़ल में एक पोटली लिए था, जिन पर राक्षस की मोहर थी। यह वही चिट्ठी थी, जो उसने शकटदास से लिखाई थी और जिस पर चाणक्य ने राक्षस की मोहर लगा दी थी। पोटली उन आभूषणों की थी, जो मलयकेतु ने राक्षस के लिये भेजे थे, और जो राक्षस ने शकटदास के छूटने पर प्रसन्न होकर इस पुरुष सिद्धार्थक को दे दिए थे। पोटली पर भी राक्षस की मोहर उसी के सामने लगाई गई थी, जिसका हाल हम ऊपर लिख चुके हैं।

यह चाणक्य का सच्चा भेदिया सिद्धार्थक विना भागुरायण की मोहर के कटक से बाहर जाता था। इसलिये पकड़-कर भागुरायण और मलयकेतु के सामने लाया गया। पूछने

पर उसने उत्तर दिया कि मैं राक्षस का नौकर हूँ। कार्य-गौरव से शीघ्रता-पूर्वक पटने जाना चाहता हूँ। इसलिये मैंने भागुरायण की मुद्रा नहीं ली। अस्तु, उसके हाथ से छीन-कर पत्र खोला गया और पढ़ा गया ; उसमें लिखा था — "स्वस्ति, कहीं से कोई किसी पुरुष को लिखता है कि हमारे शत्रु को दूर करके सच्चे मनुष्य ने सचाई दिखाई। अब हमारे रक्खे हुए भेदियों को इष्टफल देकर प्रसन्न करना, क्योंकि ये लोग प्रसन्न रहेंगे, तो सब प्रकार उपकार का फल देंगे। इनमें से कोई तो शत्रु का राज चाहते हैं और कोई हाथी और कोष। हमको सत्यवादी ने जो तीन अलंकार भेजे, सो मिले। हमने भी लेख अशून्य करने को कुछ भेजा है, सो लेना, और ज़बानी हाल हमारे अत्यंत प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुन लेना।"

भागुरायण ने सिद्धार्थक से पूछा कि किसका लेख है और कहाँ जा रहा है ; परंतु उसने बड़े अंड-बंड उत्तर बतलाए, जिस पर उसे अच्छी मार दी गई। मार से पीड़ित, काँपते हुए सिद्धार्थक ने सब भेद खोला कि मुझे यह लेख और पोटली लेकर राक्षस ने चंद्रगुप्त के पास भेजा और ज़बानी संदेश यह दिया है कि कुलूत, मलय, काश्मीर, सिंधु और पारस-देशों के राजा जो मलयकेतु के मित्र बने हुए उसके साथ हैं, यथार्थ में उसके शत्रु हैं और उसका राज्य और हाथी, घोड़े, कोष आदि लेना चाहते हैं। ये लोग तुम्हारे

(चंद्रगुप्त के) सच्चे सहायक हैं और समय आने पर अपना काम पूरा करेंगे।

वाहरी चाणक्य की कपट-नीति! भागुरायण, सिद्धार्थक क्षपणक, भद्रभट आदि जो चाणक्य के पक्षपाती थे, वे तो मलयकेतु के सच्चे मित्र और सहायक बन बैठे, और राक्षस तथा कुलूत आदि के राजा जो सच्चे सहायक थे, शत्रु बन गए। निदान अब पत्र का विषय भी साफ़-साफ़ समझ में आ गया और मलयकेतु को पूर्ण निश्चय हो गया कि राक्षस ही सब बुराइयों की जड़ है।

इस विषय में एक बात यह भी बतलाने के योग्य है कि पर्वतक के मरने पर उसके जो तीन आभूषण चंद्रगुप्त ने ब्राह्मणों को दे दिए थे, वे ही आभूषण लेकर चाणक्य ने गुप्त दूतों के द्वारा राक्षस के हाथ बेचवा दिए थे। इन्हीं अलंकारों के मिलने का इशारा ऊपर की चिट्ठी में है।

अब मलयकेतु ने राक्षस को बुलाया, जिसने सोचा कि मलयकेतु के दिए हुए आभूषण तो मैंने सिद्धार्थक को दे दिए हैं, और राजा के सामने ख़ाली जाना अच्छा नहीं। इसलिये उसने मोल लिए हुए आभरणों में से एक धारण कर लिया। पहले तो मलयकेतु ने शांति से बातें कीं, परंतु अंत में क्रुद्ध होकर उसने वह सब रहस्य खोला। बेचारे राक्षस से इस समय कुछ भी न करते-धरते बनता था। उसने पहले तो इधर-उधर किया; परंतु चाणक्य की गहरी कपट-नीति स

चारों ओर घिरकर क्या कर सकता था। प्रतीहारी ने आकर प्रमाण दिया कि राक्षस के शरीर पर उस समय जो आभूषण था, वह पहले पर्वतक का था। शकटदास का दूसरा लेख मँगाकर चिट्ठी के अक्षर मिलाए गए, तो सब मिल गए। मिल क्यों न जायँ, शकटदास के हाथ की लिखी चिट्ठी थी ही; मोहर की छाप भी राक्षस ही की थी। निदान विवश होकर राक्षस ने सोचा—

मम लेख नहिं यह किमि कहें, मुद्रा छपी जब हाथ की;
विश्वास होत न सकट तजिहै, प्रीति कबहूँ साथ की।
पुनि बेचिहै नृप चंद्र भूषण, कौन यह पतियाइहै;
तासों भलो अब मौन रहनो, कथन ते पति जाइहै।

अब भागुरायण के अनुरोध और अपनी उदारचित्तता से मलयकेतु ने राक्षस को छोड़ दिया कि जाकर चंद्रगुप्त की सहायता करो और मेरे विरुद्ध जो चाहो, सो करो। कुलूत-राज आदि पाँच राजा, जो यथार्थ में मित्र होने पर भी चाणक्य की कुटिल-नीति से शत्रु माने गए, वह जीवित ही पृथ्वी में गाड़ दिए गए या हाथियों से कुचलवा डाले गए।

इस प्रकार राक्षस को निकाल देने और प्रधान सामंतों को मरवा डालने से मलयकेतु का बल हीन हो गया; और भागुरायण तथा भद्रभट आदि चाणक्य के हितैषियों ने उसे पकड़कर बाँध लिया। उसकी निज की सेना ने कुछ पराक्रम दिखाया; परंतु सब नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई।

राक्षस को सिवा पटना-नगर जाने और चंदनदास आदि मित्रों से मिलने के और कुछ काम अवशिष्ट न था। वह ज्यों-ज्यों नगर के समीप जाता था और परिचित स्थानों को देखता था, त्यों-त्यों नंदवंश-क्षय का रोष उसके हृदय में धधकता था। जिस नगर में प्रधान मंत्री के पद पर वह सब राज-ऐश्वर्य भोग चुका था, उसी नगर में चोर के समान मुँह छिपाकर जाना उसे बड़ा ही कष्टदायक प्रतीत होता था। परंतु कोई अन्य उपाय शेष नहीं रहा। इसलिये वह नगर के बाहर एक टूटे-फूटे पुराने बाग़ में जाकर बैठा और प्रतीक्षा करने लगा कि कोई पुरुष उधर से निकले, तो नगर का वृत्त पूछूँ।

चाणक्य को गुप्त चरों के द्वारा यह सब ख़बर मिल गई थी। उसने इस समय एक आदमी को भेजा, जिसने राक्षस के सामने अपने गले में रस्सी से फाँसी लगाई। राक्षस का कुतूहल बढ़ा कि यह पुरुष क्यों ऐसा काम कर रहा है, उसने जाकर कारण पूछा। पुरुष सधा हुआ तो था ही, पहले इधर-उधर किया, फिर बतलाया कि राक्षस मंत्री का कुटुंब अपने घर में रखने के कारण सेठ चंदनदास को शूली देने की आज्ञा हुई है; इसी चंदनदास के मित्र विष्णुदास ने राजा से विनय किया कि मित्र के बदले मुझे शूली दी जाय, और मेरा धन-धान्य सब छीन लिया जाय; परंतु राजा ने स्वीकार न किया। इसलिये विष्णुदास चिता लगा-

कर जलने को गया है। मैं विष्णुदास का मित्र हूँ और मित्र का वियोग न सहकर फाँसी लगाकर प्राण देना चाहता हूँ।

परम मित्र चंदनदास की यह ख़बर सुनकर और उस पुरुष की स्नेहमयी क्रिया से उत्तेजित होकर राक्षस ने जिस प्रकार हो, चंदनदास के छुड़ाने का संकल्प किया। उसका विचार था कि खड्ग के बल से सब काम पूर्ण करूँगा, परंतु उस पुरुष ने चेतावनी दे दी कि जब से शकटदास को कोई पुरुष छुड़ा ले गया, तब से वध्य स्थान में कोई भी हथियार-बंद आदमी नहीं जाने पाता, और यदि आप जाने का साहस करेंगे, तो आपके पहुँचने से पहले ही वे चंदनदास का वध कर देंगे।

अब राक्षस हताश हो गया ; परंतु उस पुरुष को दौड़ाया कि तुम जाकर विष्णुदास का जीवन बचाओ। वह स्वयं चंदनदास को छुड़ाने के लिये वध्य स्थान की ओर चला।

उधर चाणक्य की आज्ञा से दो राजपुरुष चांडाल का रूप धारण करके चंदनदास को वध्य स्थान की ओर ले चले। चंदनदास के पीछे उसकी स्त्री और पुत्र भी रोते और शोक करते जा रहे थे। बेचारी कुटुंबिनी अपने पति के साथ स्वयं प्राण देना चाहती थी, और छोटा पुत्र भी पिता बिना संसार को शून्य-सा देखता था। परंतु चंदनदास के मन में अणु-मात्र भी ग्लानि नहीं थी, प्रत्युत बिना किसी अपराध के, और मित्र के उपकार के लिये, उसे प्राण-समर्पण अच्छा लगता था।

शूल गाड़ा गया और उस पर चंदनदास के आरोपित करने की बातचीत होने लगी कि राक्षस मंत्री पहुँच गया और चंदनदास के बदले अपने को शूल पर चढ़ाने की प्रार्थना करने लगा। एक चांडाल-वेषधारी भट ने तो चंदन-दास को एकत्र बिठाया और दूसरा राक्षस को लेकर चाणक्य के पास गया, जिसने सुनते ही कहा—

किन निज बसनहिं में धरी, कठिन अग्नि की ज्वाल?
रोकी किन गति बायु की, डोरिन ही के जाल?
किन गजपति मर्दन प्रबल, सिंह पींजरा दीन?
किन केवल निज बाहुबल, पार समुद्रहिं कीन?

यथार्थ में ऐसे नीतिनिपुण मंत्री को वश में कर लेना सहज काम नहीं था। राक्षस भी चाणक्य की कुटिल-नीति पर मुग्ध-सा हो गया और सोचने लगा—

सागर जिमि बहु रत्नमय, तिमि सब गुण की खानि;
तोष होत नहिं देखि गुण, बैरी हू निज जानि।

चाणक्य ने राक्षस को चंद्रगुप्त का वशवर्ती और मंत्री बनाने के लिये जो-जो कपट के दाँव-पेंच लगाए थे, सबका उद्घाटन किया। इसी समय राजा चंद्रगुप्त भी आया। चाणक्य ने दोनों को मिलाया, और राक्षस से कहा—"यदि चंदनदास का जीवन चाहते हो, तो चंद्रगुप्त के मंत्रीत्व का खड्ग हाथ में पकड़ो, जिससे तुम्हारी सत्यता में कोई संदेह न रह जाय।" यह बात राक्षस के लिये थी तो बहुत कठिन,

क्योंकि जिस चंद्रगुप्त के निर्मूल करने के लिये उसने इतने उपाय किए थे, उसका सेवक बनना दुःखदायक था ; परंतु मित्र के प्राण बचाने के लिये उसने स्वीकार कर लिया।

राक्षस के अधिकार पाते ही भद्रभट, भागुरायण आदि मलयकेतु को बाँधकर लाए। राक्षस ने पूर्व उपकार मानकर उसके लिये अभय माँगा, और चाणक्य ने अभय दिलाकर उसे अपने पिता के राज्य पर सकुशल पहुँचवा दिया। चंदनदास संपूर्ण राज्य के सेठों का चौधरी बनाया गया, और सिवा हाथी-घोड़ों के और सब बंधन से छोड़ दिए गए। अब चाणक्य ने अपनी प्रतिज्ञा से भी अधिक कार्य पूर्ण करके अपनी खुली हुई शिखा बाँधी और राजा व प्रजा के लिये आशीर्वाद दिया—

धरि बराह को रूप महि , दंत-कोटि में धारि ;
प्रलय समय रच्छा करी , अद्भुत चरित मुरारि।
सोई हरि याहू समय , चंद्रगुप्त के वेश ;
सकल अवनि रच्छा करैं , खल-दल दलहिं हमेश।

इँगलैंड का इतिहास

[३ भागों में]

लेखक, सुप्रसिद्ध हिंदी-लेखक प्रोफ़ेसर डॉक्टर प्राणनाथजी विद्यालंकार। हिंदी में इँगलैंड-जैसे स्वतंत्रता-प्रिय देश का एक अच्छा-सा इतिहास भी अभी तक नहीं लिखा गया ! इसी अभाव की पूर्ति के लिये अँगरेज़ी की ढेरों प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुस्तकें पढ़कर और उनका अवलंब लेकर इस ग्रंथ-रत्न की रचना की गई है। यह ग्रंथ हिंदी-साहित्य का गौरव बढ़ाने-वाला है। प्रत्येक लाइब्रेरी और पुस्तकालय में इसकी एक-एक प्रति रहनी चाहिए। विद्यार्थियों के लिये तो यह ग्रंथ अमूल्य ही है। यह उत्कृष्ट और अपूर्व ग्रंथ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में और सी० पी०, यू० पी०, बिहार आदि में, मैट्रिक्युलेशन में, पढ़ाया जाता है। काग़ज़ बढ़िया। छपाई मनोहारिणी। तीनों भागों का मूल्य लगभग ३)

दुर्गावती

इस वीर-रस-पूर्ण ऐतिहासिक नाटक के लेखक हैं लखनऊ-युनिवर्सिटी के हिंदी-लेक्चरार पं० बदरीनाथ भट्ट बी० ए०। यह गद्य-पद्य-मय मौलिक नाटक बड़ा ही मनोरंजक, विनोद-पूर्ण, शिक्षाप्रद और भावमय है। कहीं वीरता के ओजस्वी

वर्णन से आपका रोम-रोम फड़क उठेगा, और कहीं साहित्यिक विनोद से आप खिलखिला उठेंगे। पुस्तक बड़ी सजावट से छपी है। अनेक रंगीन चित्रों से सुसज्जित। मूल्य १), सुंदर रेशमी जिल्द का १॥)

बुद्ध-चरित्र

अनुवादक, 'सुधा'-संपादक पं० रूपनारायण पांडेय कवि-रत्न। पांडेयजी ने बँगला के अनेक विख्यात नाटकों का ऐसा भाव-पूर्ण अनुवाद किया है कि वे बिलकुल मौलिक-से मालूम होते हैं। समाज, भाव, भाषा, शैली, सब पर हिंदीपन और स्वाभाविकता की छाप लगी हुई है। राजसी सुख-भोग की लालसाओं को लात मारकर, अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये संसार के सारे सुखों को तिलांजलि देकर महात्मा बुद्धदेव किस प्रकार आत्म-चिंतन और वैराग्य में लीन हुए थे, इसका स्पष्ट चित्र देखना हो, तो यह नाटक अवश्य पढ़िए। ज्ञान, शिक्षा, उपदेश, पवित्रता और शांति तथा प्रेम से पूर्ण ऐसा मनोरंजक नाटक आपने शायद ही अब तक पढ़ा हो। सी० पी० और दिल्ली में यह एंट्रेंस में पाठ्य-पुस्तक है। ४-५ चित्रों-सहित पुस्तक का मूल्य ॥।), सुंदर रेशमी जिल्द का मूल्य १।)